महान मनीषी

●

लेखक

जगन्नाथप्रसाद मिश्र

एण्ड संस, काश्मीरी गेट, दिल्ली ६

जो

अपनी

सहृदयता, शालीनता, ज्ञान-गरिमा

एवं मनीषा के कारण

एक मानव के

रूप में महान् हैं

उस ज्ञान तपस्वी

सर्वजनवरेण्य नेता

डा० श्रीकृष्ण सिंह

को

सादर, सश्रद्ध

समर्पित

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक में विदेशों के ऐसे कितने ही महान ज्ञानी-गुणी-जनो के जीवनवृत्त एवं शब्दचित्र दिये गये हैं जिन्होंने अपनी प्रतिभा, मनीषा एवं विद्वत्ता के द्वारा मानव-जाति की विचारधारा में क्रान्ति-कारी परिवर्त्तन ला दिये है और महाकाल के अनन्त प्रवाह पर अपने व्यक्तित्व की अमिट छाप अङ्कित करके लोकान्तरित हुए है। अपने जीवन-काल में इन महान मनीषियों ने राष्ट्र, समाज, जीवन एवं जगत के सम्बन्ध में मौलिक विचार किये, नवीन उद्भावनाएँ कीं और उनके प्रकाश में मानव-जाति को नये-नये आदर्शों का संधान दिया। उनके विचारों और आदर्शो को ग्रहण करके कर्मियों ने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विप्लव का शङ्खनाद किया जिसके फलस्वरूप राजनीतिक एव सामाजिक क्रान्तियाँ हुईं और नूतन समाज का अरुणोदय हुआ। राज-नीति, अर्थनीति, समाजनीति, ज्ञान-विज्ञान सभी क्षेत्रों में इन चिन्ता-धीरों के चिन्तन एवं मनन का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है और उस प्रभाव द्वारा मानव-सभ्यता के ऐतिहासिक क्रम-विकास को प्रेरणा एवं स्फूर्ति मिली है। पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति के क्षेत्र में प्लेटो और आरि-स्टाटिल के दान का कितना बड़ा महत्त्व है। पाश्चात्य ज्ञान, विज्ञान, साहित्य, कला, दर्शन आदि के क्षेत्रों में आज हम जो कुछ चमत्कारपूर्ण प्रगति देख रहे हैं उन सबके मूल में प्लेटो और आरिस्टाटिल की विचार-धारा बीज-रूप में निहित है। इसी प्रकार यूरोप के राजनीतिक क्षेत्र मे फ्रांस की राज्यक्रान्ति—का जो युगान्तरकारी प्रभाव पड़ा और जिसके परिणामस्वरूप जनतंत्रवाद—का स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व का—स्वरैं मुखरित हुआ उसके पीछे क्या रूसो और वालटियर की लेखनी काम नहीं कर रही थी ? और कार्लमार्क्स के जीवन्त विचारो

का प्रभाव तो आज भी हम जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे अत्यन्त प्रखर रूप मे अनुभव कर रहे हैं। सच तो यह है कि उनके विचारों ने वर्त्तमान युग की राजनीति, अर्थनीति एव समाजनीति को धर्म, दर्शन एव साहित्य को जिस रूप में प्रभावित किया है उस रूप में अन्य किसी एक व्यक्ति की विचारधारा ने नहीं। मार्क्स के विचारों का प्रवाह बडी तेजी से संसार के हर कोने में परिव्याप्त हो रहा है। हाँ, यह दूसरी बात है कि उस प्रवाह में तिनके की तरह न बहकर हम उसमें देश, काल, परिस्थिति एवं युग-धर्म के अनुकूल आवश्यक परिवर्त्तन करके उसके मूल तत्व को ग्रहण करें।

जिस जर्मनी के कारण यूरोप में दो-दो महाविध्वंसकारी विश्व-युद्ध हुए और विपुल धन-जन का संहार हुआ। उस जर्मनी और वहाँ की जर्मन-जाति में जातिगत श्रेष्ठत्व एवं सैनिकवाद की भावना भरने में निट्शे के जीवनदर्शन का कितना बड़ा हाथ रहा है। आधुनिक काल में आइन्सटाइन ने अपनी मनीषा द्वारा विज्ञान के क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का जो चमत्कार दिखलाया और अपने असाधारण व्यक्तित्व एव चारित्र्य द्वारा जिस सार्वभौम सम्मान के अधिकारी बने उससे हम भली भाँति परिचित है। इसी प्रकार वर्त्तमान काल के बुद्धिवादियों मे बर्टरैण्ड रसेल की गणना शिरोमणि के रूप मे की जाती है। उनकी प्रतिभा की दीप्ति गणित, समाज-विज्ञान, दर्शन आदि विभिन्न क्षेत्रों मे देखी जाती है। अपने मौलिक चिन्तन एवं अनुशीलन द्वारा वे आधुनिक मानव-समाज की विभिन्न समस्याओं पर नूतन रूप में आलोक-पात कर रहे है और हमारे अन्तर में विचारमंथन पैदा कर रहे हैं।

इस प्रकार युग-युग में जिन प्रतिभाशाली महापुरुषों एवं चिन्ता वीरों ने जन्म-ग्रहण करके हमें नूतन ज्ञान एवं नूतन जीवनादर्श दिये है, जिनके विचारों को पढ़कर आज भी हम बहुत कुछ सीख सकते है, अपनी मानसिक क्षुधा की परितृप्ति कर सकते हैं वे सब हमारे लिए श्लाघनीय एवं वन्दनीय है। इस पुस्तक में इस कोटि के ही कतिपय

ज्ञानी प्रतिभाशाली जनों की जीवन-झाँकियाँ उपस्थित की गई हैं। जीवनवृत्तों के संग्रह में मैंने अनेकानेक पुस्तकों एवं पत्र-पत्रिकाओं से सहायता ली है। उनके प्रति कृतज्ञता-भाव ज्ञापित करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। इसके कुछ अंश निबन्ध रूप में हिन्दी की पत्रिकाओं में स्थान भी पा चुके हैं। मौलिक रूप में इसमें मेरा दान नहीं के बराबर है। हाँ, पुस्तक में जो त्रुटियाँ रह गई हैं उनके लिए एकमात्र मैं ही उत्तरदायी हूँ। पुस्तक जैसी जो कुछ बन पड़ी है, पाठकों के समक्ष है। सुधी पाठक इसके गुण-दोषों का नीर-क्षीर-विवेक जिस रूप में करेंगे वह मेरे लिए शिरोधार्य होगा।

सितम्बर, १९५८ —जगन्नाथप्रसाद मिश्र

लहेरिया सराय

(दरभङ्गा)

क्रम

१

आचार्य कनफ़ूसियस

१९१२ ई० में चीन के सम्राट् ने (जो ईश्वर के पुत्र नाम से अभिहित होते थे) राजसिंहासन का परित्याग किया और चीन में जनतंत्र की स्थापना हुई। इसके पाँच वर्ष बाद १९१७ के फ़रवरी महीने में चीन की जन-प्रतिनिधि सभा में इस विषय को लेकर बड़ा ही दिलचस्प तर्क-वितर्क उपस्थित हुआ कि चीन का राजधर्म क्या होना चाहिये। बात यह थी कि पिछले दो हज़ार वर्ष से भी अधिक चीन में कनफ़ूसियस द्वारा प्रवर्त्तित धर्म राजधर्म के रूप में मान्य था। किन्तु राजतंत्र के उच्छेद के साथ-साथ इस राजधर्म का भी लोप हो गया। अब संसद् के सामने यह प्रस्ताव उपस्थित था कि चीन में पुनः कनफ़ूसियस द्वारा प्रवर्त्तित धर्म की स्थापना होनी चाहिये और कनफ़ूसियस चीन के देवता के रूप में पूजित हों। चीन के कुछ प्रवीण एवं सुपण्डित राजपुरुषों ने बड़े उत्साह के साथ इस प्रस्ताव का समर्थन किया, किन्तु वह स्वीकृत नहीं हुआ। यह घटना इस बात का प्रमाण है कि चीनी जनता के मन पर कनफ़ूसियस के धर्मोपदेश का प्रभाव अमिट रूप में पड़ा हुआ है और आज भी वह लुप्त नहीं हुआ है।

यह कनफूसियस कौन थे और इनके द्वारा प्रवर्तित धर्म क्या है ? कनफूसियस द्वारा प्रवर्त्तित धर्म के सारमर्म को हृदयङ्गम करने के लिये पहले यह जान लेना आवश्यक है कि धर्म के सम्बन्ध में लोगों मे प्रचलित धारणा क्या है ? प्रायः जितने धर्माचार्य हुए हैं सबने अपने धर्मोपदेशों में आदर्श पर विशेष रूप से जोर दिया है। प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक जितने धर्म-प्रवर्त्तक, धर्मगुरु एवं धर्मोपदेशक हुए हैं उनके उपदेशों एवं प्रवचनों में धर्म का जो आदर्श रूप है उसे ही सब मनुष्यों के लिये मान्य बताया गया है। जहाँ तक आदर्श का सम्बन्ध है अवश्य ही वह वरेण्य है और इस आदर्श से मनुष्य को धर्म-मार्ग में प्रवृत्त होने की प्रेरणा भी मिलती रही है। किन्तु इसके साथ ही यह भी सत्य है कि लौकिक जीवन में आदर्श को मान कर चलना सब समय मनुष्य के लिये सम्भव नहीं होता। मनुष्य की रुचि-प्रवृत्ति के साथ जब आदर्श का संघर्ष उपस्थित होता है तब आदर्श का मार्ग उसके लिये दुरधिगम्य जैसा प्रतीत होने लगता है। जीवन में पग पग पर लोक धर्म एवं आदर्श धर्म के बीच द्वन्द्व उपस्थित होता है और साधारण मनुष्य आदर्श धर्म का पालन करने में असमर्थ हो जाते हैं। बौद्ध धर्म और ईसाई धर्म में जब इन्द्रिय निरोध, भोग-परित्याग एवं संन्यास को ऐकान्तिक धर्म मानकर उन पर अत्यधिक जोर दिया जाने लगा तो इसका परिणाम यह हुआ कि मठों और आश्रमों में वास करने वाले भिक्षुओं और संन्यासियों में आदर्श भ्रष्टता फैलने लगी और उनका पतन होने लगा। त्याग एवं इंद्रिय-निग्रह आदर्श के रूप में वरेण्य होने पर भी सब के लिये अधिगम्य नहीं हो सकते। संन्यास की महिमा का चाहे जितना प्रचार किया जाय किन्तु अधिकांश मनुष्य की प्रवृत्ति संसारी बनने की ही रहेगी। इसलिये जब ऐसे आदर्श का प्रचार किया जाता है जिसका विरोध वास्तविक जीवन के साथ नहीं होता और जो आदर्श मनुष्य के लिये दुरधिगम्य नहीं होता तब उस आदर्श के साथ जीवन में समन्वय करके चलना मनुष्य के लिए सहज होता है। ऐसे

आदर्श केवल धर्म-ग्रन्थों तक सीमित न रहकर समाज-जीवन में प्रतिफलित होने लगते हैं। चीन देश के आचार्य कनफूसियस ने इसी प्रकार के आदर्श धर्म का प्रचार किया था। उन्होंने मनुष्य के लिये जिन सब कर्तव्यों का निर्देश किया है उनका पालन करना मनुष्य के लिये कठिन नही है। साधारण मनुष्य भी उनका सहज ही पालन कर सकते हैं। वास्तविक जीवन के साथ उनका विरोध नहीं है। यही कारण है कि कनफूसियस के धर्मोपदेशों ने चीनवासियों के जीवन को गम्भीर रूप में प्रभावित किया और इस धर्म का पालन करने में उन्हें जीवन की वास्तविकता के साथ संघर्ष नहीं करना पड़ा।

प्राचीन काल मे जितने महान् उपदेशक हुए हैं प्रायः सब के सब धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे। किन्तु कनफूसियस इस अर्थ में धर्मपरायण नही थे। वे स्वयं कदाचित् ही किसी धार्मिक अनुष्ठान का पालन करते थे। उन्होंने धर्म के सम्बन्ध में कोई शिक्षा भी नहीं दी है। आज यदि वे जीवित होते तो लोग उन्हें अज्ञेयवादी मानते, क्योंकि आध्यात्मिक शक्तियों में विश्वास रखते हुए भी वे इस विषय के अनुरागी नहीं थे। उनके जीवन-दर्शन में परलोक तथा जन्म-मृत्यु के रहस्य के लिए कोई स्थान नहीं था। उनके धर्म का सम्बन्ध सदाचार से था। अपने सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है, "मैंने बराबर इसके लिये प्रयत्न किया है कि मैं एक पूर्ण सद्गुण सम्पन्न व्यक्ति बनूं और मैंने बराबर इस धर्म का ही उपदेश दिया है।" उनका आदर्श था, "श्रेष्ठ मनुष्य वह है जो जैसा कहे वैसा आचरण करे।" इस आदर्श के अनुसार जीवन-मार्ग पर अग्रसर होने की पूर्ण योग्यता उनमें थी। उनमें आदर्श एव वास्तविकता का जैसा समन्वय देखा जाता था वैसा कदाचित् ही किसी व्यक्ति में देखा जाता था।

ईसवी सन् के पूर्व ५५१ या ५५० में उनका जन्म हुआ था। उनके पिता शू-लियांग-हाई सेना विभाग में एक उच्च पदाधिकारी थे। उनके बहुत सी पुत्रियां थी किन्तु पुत्र कोई नहीं था। सत्तर वर्ष की

अवस्था में उन्होंने दूसरा विवाह किया जिससे उन्हें पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ। प्राचीन काल के अन्य महापुरुषों की तरह इनके जन्म को लेकर भी कितनी ही दन्तकथाएँ प्रचलित हैं। कहते है कि इनकी युवती माता ने भगवान से पुत्र के लिये प्रार्थना की और भगवान को प्रसन्न करने के लिये कितने ही अनुष्ठान किये। इसके फलस्वरूप उसे स्वप्न में देवता का दर्शन हुआ और देवता ने उसे वरदान दिया, "तुम्हें एक पुत्र होगा, जो बड़ा ज्ञानी होगा।" कनफ्रूसियस जब तीन वर्ष के थे, उनके पिता की मृत्यु हो गई। इससे उनके परिवार को आर्थिक कठिनाई का सामना करना पड़ा। कनफ्रूसियस का मन यद्यपि ज्ञानार्जन की ओर प्रवृत्त था, तथापि विवश होकर उन्हे जीविका के लिये काम करना पडता था।

१९ वर्ष की अवस्था मे उनका विवाह हुआ और इस विवाह से उन्हें एक पुत्र और दो कन्याएँ हुई। गृहस्थ जीवन व्यतीत करने पर भी पारिवारिक बन्धनों मे उन्होने अपने को आबद्ध नहीं किया। उन्हे केवल विद्वान ही नहीं बल्कि एक ज्ञानवान शासक भी बनना है, अपने जीवन के इस लक्ष्य के प्रति वे बराबर सचेतन बने रहे। विवाह के कुछ समय बाद ही उन्हें एक सरकारी पद मिला। फिर उनकी पदोन्नति हुई और वे सरकारी उद्यान एवं पशुपालकों के निरीक्षक नियुक्त हुए।

२२ वर्ष की अवस्था में उन्होंने एक शिक्षण-संस्था की स्थापना करके अध्यापक एवं ज्ञानोपदेशक का जीवन आरम्भ किया। अपने छात्रों के बीच वे सदाचार एवं राज्य-शासन के सिद्धान्तों की व्याख्या किया करते थे। सब श्रेणी के छात्र उनके पास रहकर ज्ञानार्जन करते थे। धनी दरिद्र मे कोई भेदभाव नही किया जाता था। एक अध्यापक एवं प्रशासक के रूप में उनका सुनाम क्रमश: बढ़ने लगा। इस समय से ही वे अपने मतवाद का प्रचार करने लगे और एक जननायक के रूप में प्रसिद्ध हुए।

एक दिन आचार्य कनफूसियस अपने अनुयायियों के साथ एक पहाड़ी इलाके में भ्रमण कर रहे थे। मार्ग चलते हुए एकाएक सब लोग रुक गये। उन्होंने देखा कि एक समाधिस्थान के पास बैठी हुई एक स्त्री करुण स्वर में विलाप कर रही है। आचार्य ने अपने एक शिष्य से कहा—"तुम उस स्त्री के पास जाकर पूछो कि वह इस तरह क्यों विलाप कर रही है?" शिष्य वहाँ गया। उस स्त्री ने कहा—"मैं अभागिनी हूँ, इसी स्थान पर मेरे ससुर, पति और पुत्र एक बाघ के द्वारा मारे गये।" इस पर शिष्य ने पूछा—"तो फिर क्यों तुम इस भयंकर स्थान में बैठी हुई हो?" स्त्री ने उत्तर दिया—"यहाँ शासकों के अत्याचार से तो बची रहूँगी।" सारी बातें सुनकर कनफूसियस ने अपने शिष्यों को सम्बोधित करते हुए कहा—"प्यारे बच्चो, स्मरण रक्खो, स्वेच्छाचारी शासक हिंसक बाघ से भी बढ़कर भयंकर है।"

ईसवी सन् पूर्व ५१७ में लू राज्य के उच्चवंशीय दो युवक कनफूसियस के शिष्य हुए। उनके साथ कनफूसियस ने राजधानी की यात्रा की। वहाँ के राजकीय पुस्तकालय में उन्होंने ऐतिहासिक अनुसन्धान कार्य जारी रखा और इसके साथ-साथ संगीत-शास्त्र का भी अध्ययन किया। संगीत उनका अति प्रिय विषय था। संगीत का प्रभाव उनके जीवन पर गम्भीर रूप में पड़ा था। मधुर स्वर सुनने मे वे इतने तल्लीन हो जाते थे कि भोजन का स्वाद तक भूल जाते थ। उन्होंने राज्यशासन की जो योजना बना रखी थी उसमे संगीत का भी समावेश था।

जीवन के अपराह्न में कनफूसियस को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। कई स्थानों में वे घूमते रहे। जहाँ-जहाँ वे जाते लोगों को सदाचार एवं सुशासन की सीख देते। उनका अधिकांश समय अध्ययन एवं चिन्तन में व्यतीत होता। शिष्यों की संख्या में क्रमशः वृद्धि होती गई। जहाँ-जहाँ वे जाते उनके कुछ अनुरक्त शिष्य उनके साथ हो लेते और उनके मुख से निकले हुए एक-एक शब्द को अत्यन्त

मूल्यवान समझ कर संग्रहीत कर लेते। उनके शिष्यों के इस अनुराग के कारण ही हमें कनफूसियस का एक मनुष्य के रूप में साङ्गोपाङ्ग चित्र तथा एक ज्ञानी गुरु के रूप मे उनके प्रवचन उपलब्ध हैं।

जीवन के अन्तिम दिनों में उनकी प्रियतमा पत्नी का देहान्त हो गया। किन्तु वे शोक-विह्वल नही हुए। दारुण पुत्र-शोक को भी उन्होंने धैर्य के साथ ग्रहण किया। मृत्युकाल उपस्थित होने पर उन्होने ईश्वर का स्मरण करके कोई प्रार्थना-वाणी उच्चारित नहीं की। उनका मुखमण्डल प्रशान्त एवं गम्भीर था, मृत्यु-भय का कोई लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होता था।

कनफूसियस आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व परलोकवासी हुए थे। उनके उपदेश अमर बने हुए है। धर्म-शास्त्र की तरह उनकी मर्यादा आज भी बनी हुई है। उन्होंने जिस आदर्श का प्रचार किया था वह परिपूर्ण मनुष्यत्व का आदर्श है, वैराग्य का आदर्श नहीं। मनुष्य के जीवन को खण्ड रूप में नहीं सम्पूर्ण रूप में उन्होने ग्रहण किया था। उनका कथन है: "परिपूर्ण मनुष्यत्व जिसके जीवन का लक्ष्य है वह कभी इन्द्रिय तृप्ति के लिये आहार नहीं करेगा...... व्यक्तिगत सुख-भोग और आराम की इच्छा नही करेगा सब विषयों में वह उद्यमी होगा, किसी के साथ बातचीत करते समय वह अत्यन्त सावधान और सचेत बना रहेगा। ऐसे दृढ़-संकल्प व्यक्तियों के सत्सग मे रहेगा जिससे उसे जीवन में अनुप्रेरणा मिलती रहेगी। इस प्रकार क्रमश वह दोषों से अपने को मुक्त करेगा। जो अपने जीवन को इस प्रकार अनुशासित करता है वही सच्चे अर्थ में शिक्षार्थी कहा जा सकता है।

जब तुम्हारी ओर कोई ध्यान नहीं देता तब क्या तुम खिन्नता का बोध करते हो? यदि नहीं करते तभी समझना होगा कि परिपूर्ण मनुष्यत्व तुमने प्राप्त किया है।

निश्छलता और दृढ़ आत्मविश्वास, मनुष्यत्व लाभ के यही दो सोपान हैं जिस समय तुम्हें अपने अन्दर कोई दोष या त्रुटि मालूम

पडे उसका परित्याग करने में भय या शंका नहीं होनी चाहिये।

कापुरुष कौन है ? वह जो सत्य को जानता है, किन्तु जीवन मे बरतता नही। यदि सच्चे अर्थ में मनुष्य बनना चाहते हो तो कापुरुषता का परित्याग करना ही होगा।

श्रेष्ठ व्यक्ति का लक्षण क्या है ? जो क्षण भर के लिये भी धर्मविरोधी आचरण नही करता। घोर विपत्ति के समय में भी जो दृढ भाव से धर्म का आश्रय ग्रहण किये रहता है। श्रेष्ठ व्यक्ति मित-भाषी, वाक्संयमी एवं कर्मोद्यमी बनने की इच्छा करेगा। सारांश यह कि श्रेष्ठ व्यक्ति कभी श्रेय पथ से विचलित नहीं होगा।

सर्वाङ्गीण मनुष्यत्व की साधना के लिये शरीर, वाक् और मन से सत्य को ग्रहण करना होगा। सत्य को जो जानते हैं वे कभी भी उन लोगों की बराबरी नहीं कर सकते जो सत्य के अनुरागी हैं, और सत्य से जो प्रेम करते है, वे उनके बराबर नहीं हैं जिन्हें सत्य के पालन मे आनन्द मिलता है। सारांश यह कि सत्य को केवल बुद्धि के द्वारा जानने से काम नहीं चलेगा, उसके प्रति आन्तरिक अनुराग होना चाहिये और उसका आश्रय ग्रहण करके परम आनन्द प्राप्त करना चाहिये।"

कनफूसियस 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' नीति के उपासक थे। उन्होंने हमे बताया है : "श्रद्धा जब सीमा को पार कर जाती है तब वह बाह्य आडम्बर का रूप धारण कर लेती है, सतर्कता जब सीमा का अतिक्रमण कर जाती है तब वह भीरुता बन जाती है, शक्ति जब सीमा को पार कर जाती है तब वह औद्धत्य बन जाती है और निश्छलता जब सीमा से बढ जाती है तब वह रूढ़ता का नामान्तर बन जाती है। इस प्रकार किसी भी विषय में जब मनुष्य मात्रा या सन्तुलन का ज्ञान खो बैठता है तब उसका जीवन सामञ्जस्यहीन बन जाता है। इसलिये सब प्रकार की अतिशयता का वर्जन करके मनुष्य को मध्यम मार्ग का अनुसरण करना चाहिये। महात्मा बुद्ध ने गृहस्थी के लिये यही उपदेश किया है।

भगवान श्रीकृष्ण ने गीता मे कहा है : "युक्ता हार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु, युक्त स्वप्नाव बोधस्य योगो भवति दु:खता।" ग्रीक दार्शनिक एरिस्टाटिल भी इसी मध्यम मार्ग के अनुयायी थे।

गीता में जिसे साम्यावस्था कहा गया है उस अवस्था का वर्णन करते हुए कनफ्यूसियस ने कहा है—"मन में जब सुख-दुःख या काम-क्रोध की कोई तरंग नहीं उठती तब मन साम्यवस्था को प्राप्त होता है। जब मन में सद्भाव उत्पन्न होते हैं और मनुष्य उनके अनुसार कार्य करता है, तब उस अवस्था को 'सामञ्जस्य' कहते है। साम्यावस्था वह उत्स है जिससे मनुष्य के सारे कर्मोद्यम उद्भूत होते है और सामञ्जस्य वह मार्ग है जो सबके लिये ग्रहणीय है।" कनफ्यूसियस ने जिस साम्यावस्था का वर्णन किया है उस अवस्था में प्राप्त होकर मनुष्य निर्विकार बन जाता है। उसकी दृष्टि में समदर्शिता आ जाती है।

कनफ्यूसियस कोरे आदर्शवादी नही थे। उन्होंने जो ज्ञानार्जन किया था, उसे व्यावहारिक राजनीति के क्षेत्र में भी उन्होंने पूर्ण रूप से सफल कर दिखाया था। बावन वर्ष की अवस्था में वे यंग-तू नगर के शासक के पद पर नियुक्त हुए, इस रूप में उन्होंने जो कुछ कर दिखाया वह सब के लिये विस्मयजनक सिद्ध हुआ। शीघ्र ही उनकी पदोन्नति हुई और वे राज्य के उच्चतम पदों पर प्रतिष्ठित हुए। अपनी प्रतिभा और अपने दो शिष्यों की सहायता की बदौलत उन्होंने शासन-नीति मे चमत्कार कर दिखाया। उनके शासन काल में "असाधुता एवं लम्पटता ने अपना सिर छिपा लिया। राजभक्ति और सद्भाव पुरुषों के तथा सतित्व स्त्रियों के विशिष्ट गुण बन गये। जनता के उपास्य देवता के रूप में घर घर उनका गुण-कीर्तन होने लगा।"

यह देखकर आश्चर्य होता है कि कनफ्यूसियस ने शासन-नीति मे जो सुधार किये थे वे आधुनिक काल के लिये भी सामान रूप से प्रयोज्य है। उनमें कुछ तो आज की सामाजिक धारणाओं से भी आगे

बढ़े हुए है। उन्होंने दरिद्रों के लिये केवल भोजन का ही प्रबन्ध नही किया बल्कि युवकों एवं वृद्धों के लिए पृथक भोजन की भी व्यवस्था की, उन्होने वस्तुओं का मूल्य निर्धारित कर दिया और व्यापार के विकास के लिये राजस्व का उपयोग किया। यातायात के साधनो मे उन्नति हुई, सड़कों और पुलों की मरम्मत की गयी। उन्होंने पहाडो मे जो लुटेरे भरे हुए थे उनका उच्छेद कर दिया। सामन्तों के अधिकार नियन्त्रित किये गये, साधारण जनों को अत्याचार से मुक्ति मिली और न्याय की दृष्टि में सब मनुष्य समान समझे गये।

कनफूसियस की यह शासन नीति यद्यपि जनता में अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध हुई, किन्तु राज्य में कायमी स्वार्थ वाला जो प्रतिपक्षिशाली धनिक वर्ग था वह उनसे बहुत चिढ गया। कनफूसियस के शासन सुधार में जो लोग विघ्न डालने वाले थे वे चाहे कितने ही महान् एव प्रभावशाली क्यों न हों कनफूसियस उन पर आघात करने मे जरा भी आगा-पीछा नही करते थे।

कनफूसियस उच्च प्रशासकीय पद पर केवल तीन वर्षों तक रहे। इसके बाद तेरह साल तक वे एक राज्य से दूसरे राज्य में निराश भाव से घूमते रहे। उन्हें आशा थी कि कोई राजा ऐसा मिल जायगा जो अपने राज्य का शासन-भार उनके ऊपर सौंपकर उन्हें यह अधिकार दे देगा कि उस राज्य को वे एक आदर्श राज्य में परिवर्तित कर डालें। किन्तु उनकी यह आशा पूर्ण नही हुई।

बहुत से स्थानों में उन्हें राजकीय सम्मान एवं राजोचित भोज मिला, किन्तु इन प्रलोभनों में वे आसक्त नहीं हुए। एक शासक ने उनके भरण-पोषण के लिए उन्हें एक नगर का राजस्व देना चाहा किन्तु उन्होंने विनम्र भाव से यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि "एक श्रेष्ठ व्यक्ति अपनी सेवाओं के लिये ही पुरस्कार लेना चाहेगा। मैंने शासक को परामर्श दिया, उसका पालन उन्होंने नहीं किया और मुझे वे वृत्ति देना चाहते हैं। उन्होंने मुझे समझने में भूल की है। खाने के

लिये मोटा चावल, पीने के लिये जल और बाँह को मोड़कर सोने के लिये तकिया बस इन्हीं तीन वस्तुओं से मुझे आनन्द मिल जाता है। असाधुता से जो धन और सम्मान प्राप्त होते हैं वे मेरे लिये क्षणिक मेघ की तरह हैं।"

उन्हें अभावग्रस्त अवस्था में कष्ट सहन करते हुए देखकर एक दिन एक शिष्य ने उदास होकर उनसे पूछा—"क्या एक श्रेष्ठ व्यक्ति को आपके समान कष्ट सहना चाहिये ?" आचार्य ने शान्त भाव से उत्तर दिया—"श्रेष्ठ व्यक्ति को अभावजनित कष्ट सहन करना पड सकता है। एक साधारण व्यक्ति ऐसी अवस्थाओं मे आत्मशासन खो बैठता है।"

अन्त में उन्हें राजा की ओर से आह्वान मिला जिसकी प्रतीक्षा वे इतने दिनों से कर रहे थे। जिस राजा ने उन्हें पदच्युत कर दिया था उसकी मृत्यु हो चुकी थी और उसका लड़का उसका उत्तराधिकारी हुआ था। अपने एक सफल सेनापति से जब उसे यह मालूम हुआ कि समर-विद्या में उसने जो कुशलता प्राप्त की है वह कनफूसियस की शिक्षा की बदौलत थी, तब उसने आचार्य को बुला भेजा और उनसे आग्रह किया कि वे कम-से-कम एक बार लू राज्य के भाग्य-संचालक बने।

किन्तु कनफूसियस की अवस्था इस समय लगभग ७० वर्ष की हो रही थी। निर्वासन-काल में उनके दिन जो नैराश्य में कटे उससे वे और भी वृद्ध दिखाई पड़ रहे थे। वे लू राज्य में लौट तो आये किन्तु शासन कार्य में भाग न लेकर एक रमणीय स्थान मे शान्त जीवन व्यतीत करने लगे। अब एक राजनीतिक अधिकारी के रूप में उनका व्यस्त जीवन नहीं रह गया।

अपने जीवन के शेष पाँच वर्ष उन्होंने लिखने और शिष्यों को पढ़ाने में व्यतीत किये। इसी समय उन्होंने अपनी एकमात्र पुस्तक की रचना की जो सम्पूर्णतया उनकी मौलिक कृति है। इस पुस्तक का नाम है "चन चिउ किंग" अर्थात् बसन्त और पतझड़ इसमें २४० वर्षों

की ऐतिहासिक कथाओं का संग्रह है।

कनफ़ूसियस की महत्ता का विचार उनके इस ग्रन्थ से नहीं बल्कि उनके उपदेशों का प्राचीन युग से लेकर अब तक चीन के ऊपर जो प्रभाव पड़ा है, उससे ही किया जा सकता है। उनकी मृत्यु के दो सौ वर्ष बाद एक सुधारवादी चीनी सम्राट् ने अपनी शक्ति एवं प्रभुत्व के बल पर चीन से कनफ़ूसियस के सारे प्रभाव को निश्चिह्न कर देने का प्रयत्न किया। उसने आचार्य की सारी कृतियों को जला दिया और उनके सिद्धान्तों को मानने वाले प्रत्येक विद्वान को मरवा डाला। किन्तु फिर भी वह सफल नहीं हुआ। उसके बाद जितने सम्राट् हुए सबने इस प्राचीन ज्ञानी उपदेशक के सुनाम की पुनः प्रतिष्ठा पर ही अपने प्रभुत्व को आधारित किया। आज सारे चीन के विद्वान उन प्राचीन ग्रन्थों को कण्ठस्थ किये रहते हैं जिनसे प्रेम करने की शिक्षा कनफ़ूसियस अपने शिष्यों को दिया करते थे। लाखों मनुष्य उनके उपदेशों की पुनरावृत्ति करते रहते हैं और उन पर चलकर अपने जीवन को धन्य बनाने की चेष्टा करते है।

कनफ़ूसियस ने किसी धर्म या दर्शन या शासन-पद्धति के संस्थापक होने का दावा कभी नहीं किया। उन्होंने स्पष्ट रूप से इस दावे को अस्वीकार किया है और अपने सम्बन्ध में कहा है : "मैं रचयिता नहीं, संवाहक हूँ।" वे पुरातन काल से चली आती हुई सुप्रतिष्ठित व्यवस्था के ही पक्षपाती थे।

ईसवी सन् पूर्व ४७८ में ७३ वर्ष की अवस्था में उनकी मृत्यु हुई। अन्त में उनके मुह से ये नैराश्यपूर्ण शब्द निकले थे : "कोई भी व्यक्ति मुझे जान नहीं सका। कोई भी बुद्धिमान शासक मुझे अपने गुरु के रूप में स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं है।"

१

साक्रेटिस

साक्रेटिस के युग में और आज के युग में लगभग ढाई हजार वर्ष का व्यवधान है, किन्तु इतने दिनों के बाद भी उनकी ज्ञान-गरिमा अम्लान बनी हुई है। पुरातन काल के ज्ञानी-गुणी जनों में इनका स्थान अग्रगण्य था। यूरोप की सभ्यता एवं संस्कृति का जन्म ग्रीस देश से माना जाता है। ग्रीस देश की राजधानी एथेन्स नगर को बड़े बड़े ज्ञानियों, मनीषियों एवं दार्शनिकों को उत्पन्न करने का गौरव प्राप्त हुआ है। साक्रेटिस को यदि हम इन में मूर्धन्य कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। आज भी उनके नाम को स्मरण करके सम्मान, श्रद्धा एवं विस्मय से हमारा मस्तक नत हो जाता है।

साक्रेटिस देखने में अत्यन्त कुरूप थे। गंजा सिर, चपटी नाक और गोल चेहरा। वेशभूषा भी अत्यन्त साधारण और विलक्षण। घुटने से नीचे तक लटकता हुआ एक लम्बा चोगा और उसे ही नित्य धारण किये हुए एथेन्स के राजमार्ग से जन-कोलाहल के बीच धीर मन्थर गति से किसी मन्दिर की ओर जा रहे हैं। साथ में युवकों की शिष्य-मण्डली—जिसमें एथेन्स के कितने ही कुलीन परिवारों के युवक भी थे। इन्हीं शिष्यों में प्लेटो भी थे जो आगे चलकर उनके

पट्ट शिष्य के रूप में विश्वविख्यात हुए। जहाँ कहीं निर्जन स्थान मिल जाता साक्रेटिस अपने शिष्यों के साथ बैठ जाते और शास्त्र-चर्चा शुरू कर देते। शिष्यों के मन में जो सब शंकाएँ उठतीं अपने गुरु के सामने रखते और गुरु अत्यन्त सरल भाव से उनका समाधान करने की चेष्टा करते। और वे सब समस्याएँ वही थीं जो आधुनिक काल के युवकों के सामने भी जीवन्त रूप में उपस्थित हो रही हैं। युवको के सामने प्रश्न यह था कि रूढिगत विश्वासों एवं परंपरागत धारणाओ को प्रमाण मानकर उन्हें ज्यों-का-त्यों ग्रहण कर लिया जाय अथवा उनके सत्यासत्य को लेकर आलोचना की जाय? साक्रेटिस युवकों को निर्भीक भाव से तर्क-वितर्क करने के लिये उत्साहित करते। यदि मनुष्य बिना विचार और सत्यान्वेषण किये अन्ध भाव से सब कुछ मान ले तो यह उसके लिये गौरव की बात नहीं हो सकती। किन्तु उस समय के जो राजपुरुष थे उन्हें साक्रेटिस का यह आचरण पसन्द नही था। उन्होंने साक्रेटिस पर युवकों को भ्रष्ट करने का दोषारोपण किया।

साक्रेटिस का जन्म ईसवी सन् से ४६६ पूर्व एथेन्स नगर मे हुआ था। एथेन्स का वह स्वर्णयुग था। ग्रीस के नगर-राज्यों में वह सबसे बढ़कर शक्तिशाली था। विद्या एवं कला की जैसी चर्चा उस समय उस महानगरी मे होती थी वैसी पहले कभी नहीं हुई थी। साक्रेटिस के पिता प्रस्तर की मूर्ति बनाने का व्यवसाय करते थे। तरुण साक्रेटिस ने कुछ समय तक यह पैतृक व्यवसाय किया। उनकी माता धात्री का काम करती थी। माता की इस वृत्ति के कारण साक्रेटिस हास्य के रूप में अपने को विचार की धात्री कहा करते थे।

साक्रेटिस की जीवन-कथा विश्व के अन्धकारपूर्ण पट मे एक सुनहले धागे के समान है। अपनी प्रतिभा के कारण वे प्रसिद्ध हुए, किन्तु अपने श्रेष्ठ गुणों के कारण मृत्युदण्ड के भागी हुए। उनके जैसे सत्यनिष्ठ व्यक्ति को उस समय की दुनिया

सहन नहीं कर सकती थी।

साक्रेटिस के जीवन के सम्बन्ध में हमें जो कुछ ज्ञात है सब उनके शिष्य प्लेटो और जोनोफोन के लेखों से। प्लेटो की रचनाओं मे हम साक्रेटिस को शिष्यों के साथ वार्तालाप, तर्क-वितर्क और सत्य की खोज में शङ्का-समाधान करते पाते हैं। जीवन एवं मृत्यु के सम्बन्ध मे उनके विचार क्या थे तथा साक्रेटिस की महत्ता किन बातों को लेकर थी, प्लेटो ने इन सब बातों पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है।

उस समय एथेन्स के सब नागरिकों को अनिवार्य रूप में सैनिक शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती थी। इसके अनुसार साक्रेटिस ने भी सैनिक शिक्षा प्राप्त की और एक सैनिक के रूप में कई युद्धों में बड़ी वीरता के साथ योगदान किया।

साक्रेटिस के जीवन का अधिकांश अपने शिष्यों के बीच प्रवचन करने में व्यतीत हुआ। उनके जैसा प्रवचन करने वाला उस समय दूसरा कोई नहीं था। अपने जीवन काल में ही उनकी ख्याति संसार के सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी पुरुष के रूप में फैल गई थी। बहुत सवेरे ही वे घर से बाहर निकल जाते और सारा दिन नंगे पाँव घूमते रहते। कहाँ खायेंगे, कहाँ रात्रि व्यतीत करेंगे कुछ ठिकाना नहीं। जाड़ा हो या गर्मी वे एक ही परिधान धारण किये रहते। शरीर की कोई चिन्ता नहीं। इस प्रकार सत्य के अनुसन्धान में दिन पर दिन बीतते जाते। इसका यह अर्थ नहीं कि वे घर-गृहस्थी के बन्धन से सर्वथा मुक्त थे। उन्होंने दो विवाह किये थे। पहली स्त्री से दो और दूसरी से एक पुत्र था। दूसरी स्त्री जैनथिपी कर्कशा थी। उसके कठोर वाक्यों को सुनकर साक्रेटिस को घर में रहने की इच्छा नहीं होती थी। पत्नी जैनथिपी की दृष्टि में पति साक्रेटिस एक अकर्मण्य व्यक्ति थे—व्यावहारिक दृष्टि से सर्वथा अयोग्य। किन्तु फिर भी पति-पत्नी में प्रेम का अभाव नहीं था। सत्तर वर्ष की अवस्था में जब साक्रेटिस विषपान द्वारा मृत्यु का आलिंगन करने के लिये उद्यत हुए उस समय उनकी पत्नी की आँखों

से अश्रु धारा प्रवाहित हो चली।

स्वदेश की अपेक्षा स्वदेश के नर-नारियों की ओर उनका ध्यान अधिक था। इसलिये सड़कों पर, बाजार मे और बहुधा सार्वजनिक व्यायामशाला में वे लोगो के बीच खडे होकर वार्तालाप आरम्भ कर देते। सब प्रकार के लोगों—ऊँच, नीच, धनी, गरीब, साधारण, असाधारण— के साथ उनका वार्तालाप चलता रहता। वार्तालाप के समय ऐसा लगता मानों वे कुछ नही जानते। सरल उदाहरण देकर वे सरल से सरल प्रश्न पूछते और श्रोताओं से उनके उत्तर चाहते। अपने श्रोताओं को आकृष्ट करने के लिये वे श्लेष वाक्य का व्यवहार करते। उनके प्रश्नों का लक्ष्य होता था सदसद विवेक। विना इस विवेक के मनुष्य का जीवन व्यर्थ है। साक्रेटिस यह विश्वास करते थे कि यदि मनुष्य को धर्म का सच्चा ज्ञान हो जाय तो वह अवश्य ही धर्मनिष्ठ बनने की चेष्टा करेगा। सत्य का ज्ञान ही पुण्य है और अज्ञान ही पाप है।

साक्रेटिस के शिष्य उन्हें श्रद्धायुक्त प्रेम की दृष्टि से केवल इसलिये नहीं देखते थे कि वे बहुत बड़े ज्ञानी थे बल्कि इसलिये भी कि वे ज्ञानी होने के साथ-साथ अत्यन्त विनयी भी थे। मैं सब कुछ जानता हूँ—इस तरह का अहंकार उनके मन को छू तक नहीं गया था। जिन सब संस्कारों को चरम सत्य मानकर हम चिरकाल से अपने मन मे पोषण करते आ रहे हैं उनके प्रति जब हमारे मन में सन्देह उत्पन्न होने लगता है तभी सत्य के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होती है। ऐसी बहुत सी धारणाओं को हम आग्रह के साथ ग्रहण किये रहते है जिनकी सत्यता में हमें विश्वास नहीं होता, किन्तु स्वार्थवश हम उन्हें छोडना नही चाहते। इसलिये मन को जब तक संस्कारमुक्त नहीं किया जाता तब तक मनुष्य सत्यान्वेषी नहीं बन सकता। सब से पहले मनुष्य को अपने आप को जानना होगा—आत्मानं विद्धि।

साधारण मनुष्य राजनीति, घर-गृहस्थी और जीविका की चिन्ता

को लेकर बिना किसी द्विधा के जीवन व्यतीत कर रहे थे। रूढ़ियों और संस्कारों के प्रति कभी उनके मन में कोई संकट उत्पन्न नहीं हुआ। साक्रेटिस प्रश्न-पर-प्रश्न पूछकर उनके मन में सन्देह जगाने लगे। उनकी बद्धमूल धारणाओं पर आघात करने लगे। जीवन और मृत्यु, पाप और पुण्य क्या है ? देश-प्रेम किस को कहते हैं ? उनके प्रश्नों से लोगों के मन में अन्धविश्वास का दुर्ग हिलने लग गया। एथेन्स के लोग बहुदेवता में विश्वास करते थे। साक्रेटिस एकेश्वरवादी थे। उन्होंने लोगों को बताया कि ज्ञान द्वारा ही पाप से छुटकारा मिल सकता है। मनुष्य को स्वयं यह जानना होगा कि उसका कल्याण किस प्रकार के कर्मों से होगा। अशिक्षित मनुष्य पाप-पुण्य का विचार शास्त्र-वचनों के आधार पर करते हैं, शिक्षित मनुष्यों को अपने अन्तर के आलोक में पाप-पुण्य का विचार करना चाहिये। ज्ञानियों के निर्देश के अनुसार चलने वाले समाज में ही मनुष्य का वास्तविक मंगल हो सकता है। ज्ञानियों में जो श्रेष्ठ हैं वे यदि समाज का नेतृत्व ग्रहण नहीं करेंगे तो समाज का पतन अवश्यम्भावी है।

साक्रेटिस एथेन्स के सार्वजनिक जीवन में बहुत कम भाग लेते थे। किन्तु जब-जब सार्वजनिक कार्यों में योगदान करने का अवसर उपस्थित हुआ, उन्होंने बड़ी दृढ़ता और सच्चाई के साथ अपना स्वतन्त्र मत व्यक्त किया। लोकमत की परवाह न करके किसी विषय पर अपना मतामत व्यक्त करने का उनमें अपूर्व साहस था।

एक बार वे न्याय-समिति के सदस्य थे। उस समय एथेन्स के कुछ सेनापतियों पर मामला चल रहा था, और जनमत के बल पर उन्हें अवैध रूप में मृत्यु-दण्ड दिया गया। एक मात्र साक्रेटिस को छोड़ कर बाकी सब सदस्यों ने जनमत का समर्थन किया। किन्तु जनमत की परवाह न करके साक्रेटिस न्याय पक्ष पर दृढ़ रहे। ईसवी सन् पूर्व ४०४ में जब एथेन्स साम्राज्य का अन्त हो गया, तीस व्यक्ति वहाँ का शासन-कार्य चला रहे थे। उन्होंने साक्रेटिस को अवैध रूप में कुछ

लोगों को गिरफ्तार करने का आदेश दिया। साक्रेटिस ने इस आदेश का पालन करना अस्वीकार कर दिया, यद्यपि वे जानते थे कि इस अवज्ञा के परिणामस्वरूप उनकी प्राण हानि हो सकती है। इस प्रकार का साहस इस व्यक्ति में भरा हुआ था।

साक्रेटिस मृत्यु भय से सर्वथा रहित थे। उनका विश्वास था कि आत्मा अमर है और मनुष्य का सच्चा साथी एकमात्र धर्म ही है। इसलिये किसी भी अवस्था में सत्पथ से विचलित होना, अधर्म का आश्रय ग्रहण करना वे पाप समझते थे। उनके समय में एथेन्स के कानून के अनुसार प्रत्येक नागरिक को प्रचलित देवी देवताओं में विश्वास करना पड़ता था। शासनतंत्र की निन्दा करना महापराध समझा जाता था। जो मत और संस्कार बहुत दिनों से चले आ रहे थे उनके विरुद्ध आचरण करने वाले को भीषण दण्ड दिया जाता था। यह पहले ही कहा जा चुका है कि साक्रेटिस बहुदेवता में विश्वास न करके एकमात्र उस परमेश्वर में विश्वास करते थे जो सम्पूर्ण जगत का स्रष्टा एवं शिव स्वरूप है—अमंगल के साथ जिसका किसी भी रूप में सम्बन्ध नहीं है। गणतन्त्र के नाम पर जो राजनीतिक दल उस समय शासन कर रहा था, उसका समर्थन न करके साक्रेटिस ज्ञान के आभिजात्य का—अर्थात् श्रेष्ठ ज्ञानीजनों द्वारा शासनकार्य चलाने के सिद्धान्त का प्रचार करते थे। इससे स्वभावतः शासक दल उनसे अत्यन्त रुष्ट हो गया था। वह साक्रेटिस का प्राणनाश करने के लिये कटिबद्ध हो गया।

ई० पू० ३९९ में जब उनकी अवस्था सत्तर वर्ष की हुई उनके शत्रुओं ने उनके विरुद्ध दो अभियोग लगाये; एक यह कि वे गणतंत्र के देवताओं में विश्वास नहीं करते और दूसरा वे युवकों को तर्क-वितर्क करना सिखा कर उनके चरित्र को कलुषित कर रहे हैं। इसलिये ऐसे आदमी को जीवित नहीं रहने देना चाहिये। उनका न्याय विचार

आरम्भ हुआ। लीसियस ने जो उस समय का एक बहुत बड़ा वाग्मी था, अभियुक्त साक्रेटिस की सफाई में एक लिखित भाषण तैयार किया और साक्रेटिस को उसका उपयोग करने के लिये दिया। साक्रेटिस ने उसे पढ़ा, और लीसियस को शिष्टतापूर्वक धन्यवाद दिया, किन्तु उसका उपयोग करने की अनिच्छा प्रकट की। उसने बताया कि एक दार्शनिक को उदार एवं दृढ़ होना चाहिये।

अपनी सफाई में उन्होंने कहा, "मेरे विरुद्ध लगाये गये अभियोगो के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है वह सत्य नही है। मुझ में जो कुछ था मैंने सब एथेन्स की सेवा में समर्पित कर दिया। मेरी इच्छा थी कि मेरे साथी नागरिकों का जीवन सुखमय हो। देवताओं के विशेष आदेशानुसार मैंने इस कर्तव्य का पालन किया है।" न्यायाधीशों को सम्बोधन करते हुए उन्होंने कहा, "आपके प्रभुत्व की अपेक्षा इन देवताओं का प्रभुत्व मेरे लिये कहीं अधिक है।" अपने भाषण को समाप्त करते हुए उन्होंने कहा : "यदि आप इस शर्त पर मुझे मुक्त कर देने का विचार रखते हों कि मैं सत्यान्वेषण करना छोड़ दूंगा तो मैं आपको धन्यवाद देता हूँ और यह कहना चाहता हूँ कि मैं आपके आदेश का पालन न करके ईश्वर के आदेश का पालन करूँगा, जिसने, मेरा विश्वास है, मेरे ऊपर यह काम सौंपा है। जब तक मैं जीवित हूँ और मुझ मे शक्ति है मैं दर्शन-शास्त्र का उपदेश देना नही छोड़ूँगा। जिस किसी व्यक्ति से मेरा साक्षात् होगा उसे यह कहने का अभ्यास मैं कायम रखूँगा, ज्ञान एवं सत्य के सन्धान में रहकर आत्मोन्नति करने की अपेक्षा धन और मन के पीछे पड़े रहने में क्या तुम्हें लज्जा नहीं आती ?" मृत्यु क्या है यह मैं नहीं जानता—वह वरेण्य हो सकती है। मुझे उसका भय नहीं है। किन्तु इतना मैं अवश्य जानता हूँ कि अपने कर्तव्य पथ से विचलित होकर जिसे मैं असद् समझता हूँ उसे सद् समझ कर ग्रहण करना पाप है।" बहुमत द्वारा साक्रेटिस अपराधी

ठहराये गये। २८१ व्यक्तियों ने उन्हें अपराधी और २२० व्यक्तियों ने निर्दोष बताया। न्यायाधीशों ने उन्हें मृत्यु दण्ड दिया। एथेन्स के कानून के अनुसार साक्रेटिस को यह अधिकार था कि वे मृत्यु दण्ड के बदले मे कोई दूसरा दण्ड अपने लिये प्रस्तावित करते। उन्होंने प्रस्ताव किया कि एक जनहितैषी के रूप में उनके साथ व्यवहार किया जाय। सरकारी खर्च से उनका भरण-पोषण किया जाय। अन्ततः, उन्होंने मृत्यु के बदले एक मीना (लगभग तीन पाउन्ड) जुर्माना देना भी स्वीकार किया। उनके मित्रों ने अनुरोध किया कि तीन पाउण्ड को बढ़ा कर तीस पाउण्ड कर दिया जाय। साक्रेटिस ने इसे स्वीकार नहीं किया।

न्यायालय उनके इस व्यवहार से वस्तुतः क्रुद्ध हो उठा और बिना किसी हिचकिचाहट के विषपान द्वारा मृत्यु वरण करने का दण्डादेश सुना दिया। एथेन्स में उस समय मृत्यु दण्ड की यही प्रणाली थी। साक्रेटिस ने न्यायालय के इस आदेश को शान्त भाव से ग्रहण किया और न्यायाधीशों को सम्बोधन करते हुए कहा—"अब विदा ग्रहण करने का समय आ पहुँचा, मेरे लिये मृत्यु और आपके लिए जीवन, किन्तु ईश्वर को छोड़ कर और कोई यह नहीं जानता कि हम दोनों में से कौन महत्तर अवस्था को प्राप्त होगा।"

उस समय एथेन्स में धार्मिक उत्सव हो रहे थे, इसलिये मृत्युदण्ड को कार्यान्वित करने में तीन सप्ताह का विलम्ब हुआ। कारागार में शृङ्खलाबद्ध अवस्था में ही सोक्रेटिस अपने मित्रों से मिलते रहे और प्रसन्नतापूर्वक उनके साथ वार्तालाप करते रहे। साक्रेटिस का एक अत्यन्त विश्वस्त शिष्य क्रीटो था। जिस समय उनका विचार हो रहा था वह बराबर उपस्थित था। वह कारागार की एकान्त कोठरी में साक्रेटिस से मिला और उनसे कहा कि कारागार से उनके पलायन का उसने प्रबन्ध कर लिया है। साक्रेटिस ने यह कहकर अपनी असम्मति

प्रकट की कि मुझे एक वैध न्यायालय द्वारा दण्ड मिला है और मैं अपने देश की विधियों का पालन करूंगा।

कारावास का अन्तिम दिन उपस्थित हुआ। सार्क्रेटिस को शृङ्खलामुक्त कर दिया गया। उनके कुछ मित्र तथा सम्बन्धी उनसे मिलने आये। सार्क्रेटिस के शिष्य प्लेटो ने इस समय के दृश्य का जो वर्णन किया है वह अत्यन्त सजीव एवं कारुणिक होने के साथ-साथ साहित्यिक दृष्टि से विश्व साहित्य में अनुपम समझा जाता है। मिलने वालों में सार्क्रेटिस की पत्नी अपने सबसे छोटे पुत्र के साथ वहाँ उपस्थित थी। वह फूट-फूट कर रो रही थी। सार्क्रेटिस ने क्रीटो की ओर देखा और कहा, "क्रीटो किसी से कहो कि इसे घर ले जाय।" तब एक व्यक्ति भद्रता के साथ जैनथिपी को अपने साथ ले चला, सार्क्रेटिस अपने बिछावन पर से उठे और पाँवों में जहाँ बेड़ियाँ डाली गयी थीं, उस स्थान पर धीरे-धीरे हाथ से मालिश करने लगे। इसके बाद बड़ी धीरता के साथ उन्होंने सुख-दुख के सम्बन्ध पर एक प्रवचन आरम्भ किया। उस समय वहाँ जो लोग आये हुए थे सब सार्क्रेटिस को घेर कर बैठ गये और जीवन, मृत्यु एवं अविनश्वर आत्मा के सम्बन्ध में चर्चा छिड़ गयी। बहुत समय के बाद उन लोगों के प्रस्थान करने पर सार्क्रेटिस स्नान करने के लिए गए। स्नान करके जब लौटे तब सूर्यास्त हो रहा था। मृत्युदण्ड का समय हो गया था।

एक राजकर्मचारी वहाँ आ पहुँचा और उन्हे विष देने का जो कठोर कर्तव्य वह करने जा रहा था इसके लिए क्षमा याचना की। उसने सार्क्रेटिस से कहा कि आप मुझ से रुष्ट न हों। इतना कह कर वह चला गया और एकबारगी रो पड़ा। क्रीटो ने सार्क्रेटिस से कहा कि अभी सूर्यास्त नही हुआ। इसलिये जल्दी करने की आवश्यकता नही। सार्क्रेटिस मुस्कराये और क्रीटो से कहा, "विष देने वालों को बुला लाओ।" उन्होंने विष का प्याला उसके हाथ से ले लिया और

प्रसन्नवदन उसे पान कर गये। इस समय के दृश्य का प्लेटो ने वर्णन करते हुए लिखा है : "अब तक हम में से अधिकांश लोग किसी प्रकार अपनी वेदना को दबाए हुए थे, किन्तु जब हमने उन्हे विषपान करते देखा, हम अपने को रोक न सके। मेरी आँखों से बरबस आँसुओं की धारा बह चली ; मैं अपने चेहरे को हाथ से ढक कर रोने लगा। मुझे उनके लिये रुलाई नहीं आ रही थी, बल्कि अपने दुर्भाग्य पर कि उनके जैसा साथी मैं सदा के लिये खो रहा हूँ। क्रीटो तथा अन्य व्यक्ति भी रो रहे थे। एकमात्र साक्रेटिस ही धीर वृत्त बने हुए थे। उन्होंने भर्तस्ना के स्वर में कहा तुल लोग यह क्या कर रहे हो ? मैंने स्त्रियों को यहाँ से इसलिये लौटा दिया कि वे इस तरह की नादानी न करें क्योंकि मैंने सुना है कि मनुष्य को शान्ति के साथ मृत्यु का आलिंगन करना चाहिये। सब लोग रोना बन्द करें और धैर्य धारण करें।"

विष का प्रभाव धीरे-धीरे काम करने लगा और जब वह हृदय तक पहुँच गया वे चेतनाहीन होने लगे। उनके अन्तिम शब्द : "क्रीटो, मैंने ऐस्कलीपियस से एक मुर्गा उधार लिया था, क्या इस ऋण को चुका देने की बात तुम स्मरण रखोगे ?" "ऋण चुका दिया जायगा", क्रीटो ने कहा, "और कुछ कहना है ?" इसका कोई उत्तर नहीं मिला और एक क्षण के बाद सब कुछ शान्त।

अपने वर्णन का उपसंहार करते हुए प्लेटो ने लिखा है : "इस प्रकार हमारे मित्र की—एक सच्चे मनुष्य की जीवन-लीला समाप्त हो गयी जो हमारे समय के सर्वश्रेष्ठ मनुष्य थे और ज्ञानियों एवं न्यायवानों में वस्तुत: जिनका स्थान मूर्धन्य था।

साक्रेटिस का जीवन उनके आदर्शों का ज्वलन्त प्रतिरूप था। सिसरो के शब्दों में उन्होंने दर्शन को आकाश से लाकर पृथ्वी पर रखा। वे नैतिक दर्शन के प्रतिष्ठाता थे। उन्होंने अपना कोई नया

मतवाद नहीं चलाया। उनका लिखा हुआ कोई ग्रन्थ भी नहीं है। उनकी सम्पूर्ण शिक्षा के मूल में है—मनुष्य अपने को जाने—सत्यान्वेषी बने। उनके जीवन दर्शन का सम्बन्ध मनुष्य और उसके आचरण से था—किसी आध्यात्मिक तत्त्व से नहीं।

३
प्लेटो

प्लेटो के नाम से ही एक ऐसी मूर्ति आँखों के सामने प्रतिभासित हो उठती है जो करुणा से सजल एवं प्रज्ञा से भास्वर है। एक ऐसा व्यक्ति जो अपने विश्वासों पर अटल रह कर जीवन को प्राणमय बनाये रहा, किन्तु साथ ही व्यर्थता का दुर्वह भार भी जिसे आजीवन ढोते रहना पड़ा। प्लेटो के गुरु सुकरात का व्यक्तित्व हमारी आँखों में चकाचौंध पैदा कर देता है—एक ऐसा विराट् ज्ञानोज्ज्वल व्यक्तित्व जिस की आभा मध्याह्न-मार्तण्ड को भी म्लान कर दे—प्लेटो के शिष्य अरस्तु की मूर्ति हमारे मन में किसी प्रकार की अनुभूति जाग्रत नहीं करती, आवेग उत्पन्न नहीं करती। चिन्तन, मनन एवं विवेक से परिपुष्ट एक गम्भीर व्यक्तित्व। प्लेटो में न तो गुरु की तरह प्रखर प्रतिभा थी और न शिष्य की तरह अनुभूतिहीन पाण्डित्य का प्रकाश। प्लेटो सब कुछ होने पर भी एक मनुष्य था—मनुष्य की तरह ही शान्त व्यक्तित्व, कल्पना-प्रवण मन और भ्रांतिपूर्ण असम्भव आशाओं से भरा हृदय। प्लेटो की यह जो मूर्ति है उसमें युगविप्लव की वाणी बोल रही थी। यह मूर्ति स्थितिशील न हो कर गतिशील थी—उसमें एक सजीवता एवं प्राणमयता थी। उसका व्यक्तित्व अवास्तव नहीं, एतिहासिक था। अपने ध्यानमग्न नेत्रों से मानों उसने भावी

युग के इतिहास को प्रत्यक्ष कर लिया हो।

डा० डब्लू० आर० इंज० (W. R. Inge.) ने प्लेटो की तुलना ईसा मसीह से की है। उनके मत से वह एक विशुद्ध धर्म-प्रचारक, ईसाई संत की तरह कठोर संयमी और ईसा की तरह अध्यात्म-निविष्ट एक मनीषी था। संसार के प्राणियों को दुःख-कष्ट से मुक्त करने के लिए उसने भी ईसा की तरह ही इस पृथ्वी पर स्वर्गराज्य की कल्पना की थी। किन्तु प्लेटो की कुछ अपनी विशेषता भी थी; उसकी प्रधान विशेषता यह थी कि वह अपने अन्तर मे एक असाधारणत्व को लिये हुए था। यह असाधारणत्व उसका निज का था, जिससे उसकी ठीक-ठीक तुलना ईसा मसीह, शंकर या किसी अन्य महान व्यक्ति के साथ नहीं की जा सकती।

प्लेटो का जन्म एथेन्स के एक सम्भ्रान्त धनिक वंश में हुआ था। उसका लालन-पालन सुख एवं ऐश्वर्य के बीच हुआ। वह शरीर से सबल एवं सुदर्शन युवक था। प्रशस्त ललाट, चौड़ी छाती और सुपुष्ट स्कन्ध। खेल कूद की प्रतियोगिता में उसने दो बार पुरस्कार प्राप्त किये थे। इस प्रकार उसकी बाह्य आकृति देख कर कोई यह नही कह सकता था कि उसके अन्तर में एक दार्शनिक की आत्मा वास कर रही है। प्रथम यौवन में ही उसे साक्रेटिस का परिचय प्राप्त हुआ और इस परिचय ने उसके जीवन की गतिविधियों को सम्पूर्णतया परिवर्तित कर दिया। साक्रेटिस के सत्संग से वह ज्ञान का प्रगाढ़ उपासक बन गया। गुरु साक्रेटिस के प्रति उसकी श्रद्धा भक्ति कितनी अगाध थी इसका पता उसके इस कथन से चलता है : "ईश्वर को धन्यवाद है कि मेरा जन्म एक ग्रीक के रूप में हुआ बर्बर के रूप में नही, मुक्त पुरुष के रूप में क्रीत दास के रूप में नहीं, पुरुष के रूप में स्त्री के रूप में नही, किन्तु सब से बढ़ कर धन्यवाद इस लिए कि मेरा जन्म साक्रेटिस के युग में हुआ है।"

प्लेटो जब २८ वर्ष का था तो साक्रेटिस की मृत्यु हो गई। गुरु के शान्तिपूर्ण जीवन का अन्त जिस दुःखद रूप मे हुआ उसकी छाप

शिष्य की विचारधारा पर अमिट रूप में पड़े बिना नही रही। गणतन्त्र के इस विकृत रूप को देखकर उसके मन में गणतन्त्र तथा साधारण जनो के प्रति घोर अश्रद्धा एवं घृणा उत्पन्न हो गयी। उसने संकल्प कर लिया कि गणतन्त्र का उच्छेद करके उसके स्थान पर ज्ञानियो एव श्रेष्ठ पुरुषों का शासन स्थापित करना चाहिये। उसके जीवन की सब से बड़ी समस्या अब यही हो गई कि किस प्रकार समाज में ज्ञानी एव श्रेष्ठ पुरुषो का पता लगाया जा सकता है और तब उन्हें देश का शासन भार ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया जा सकता है।

प्लेटो ने अपने गुरु साक्रेटिस की प्राण रक्षा के लिए जो प्रयत्न किये थे इससे गणतन्त्र के नेताओं को उस पर सन्देह हो गया था। उसके मित्रों ने उससे आग्रह किया कि एथेन्स में रहना उसके लिए मंगलजनक नहीं; इसलिए वह इस नगर को छोड़ दे। विदेश भ्रमण से उसके ज्ञान एवं अनुभव में भी वृद्धि होगी। मित्रो के इस आग्रह को मान कर ई. पू. ३९९ मे उसने एथेन्स से प्रस्थान किया। सब से पहले वह मिश्र देश पहुँचा। उस समय मिश्र एक सभ्य एवं उन्नतिशील देश समझा जाता था। पुरोहित वर्ग के हाथ में देश का शासन सूत्र था। पुरोहितों के मुँह से यह सुन कर कि ग्रीस एक शिशु राष्ट्र है और उसकी परम्परागत प्रथाओं में अभी तक स्थिरता नहीं आई है और न संस्कृति में गम्भीरता, उसके स्वाभिमान पर किंचित आघात पहुंचा। किन्तु विद्वान पुरोहितों की इस जाति को जो उस समय कृषिप्रधान मिश्र देश पर शासन कर रही थी—वह भूल नहीं सका। इसको स्मृति उसके मानस में जीवित रही जिसका प्रभाव उसके रामराज्य या 'यूटोपिया' ग्रन्थ पर पड़े बिना नहीं रहा। मिश्र से वह सिसली और फिर वहाँ से इटली गया। वहाँ कुछ समय के लिए वह पियागोरस द्वारा संस्थापित एक सम्प्रदाय में सम्मिलित हो गया। इस सम्प्रदाय मे रहते हुए उसकी इस धारणा को और भी पुष्टि मिली कि समाज मे विद्वानों का एक ऐसा विशिष्ट वर्ग होना चाहिये जिनके जीवन का

आदर्श होगा सादा जीवन और उच्च विचार, और इस जीवनादर्श से अनुप्राणित हो कर ही वे शासन सूत्र की परिचालना करेंगे। बारह वर्षों तक प्लेटो भ्रमण करता रहा और इस काल में जहाँ कहीं जिस रूप में ज्ञानार्जन करने का सुयोग प्राप्त हुआ उसने उससे लाभ उठाया। अदम्य ज्ञान पिपासा लेकर वह प्रत्येक स्थान में गया और अपनी ज्ञान राशि को समृद्ध किया। कहा जाता है कि आध्यात्मिक ज्ञानाग्नि के लिए वह भारत भी आया था और गंगा तट पर तपस्वियो के संग में रह कर साधना की थी।

ई. पू. ३८७ में प्लेटो एथेन्स लौटा। इस समय उसकी अवस्था चालीस वर्ष की हो चुकी थी। अनेक देशो का भ्रमण करने तथा अनेक जातियों के सम्पर्क में आने से उसके ज्ञान में परिपक्वता आ गई थी। अब पहले की तरह यौवनोचित भावावेश नहीं रह गया था। इस भावावेश का स्थान चिन्तन एवं मनन ने ग्रहण कर लिया था। अब वह एक साथ ही दार्शनिक एवं कवि था। अपने भावों की अभिव्यक्ति वह अब इस रूप में करने लगा जिसमें सत्यम् के साथ-साथ सुन्दरम् का भी संयोग था। दर्शन के गूढ़ तत्त्वों को जिस प्रकार का काव्यात्मक रूप प्लेटो ने दिया वैसा उससे पहले और किसी ने नही दिया था। यही कारण है कि उसके लेखों को समझने में पाठको को कठिनाई होती है। दर्शन एवं काव्य, विज्ञान एवं कला का सम्मिश्रण इस रूप में हुआ है कि यह कहना कठिन हो जाता है कि लेखक अभिधा की शैली में बोल रहा है अथवा आलंकारिक शैली मे, उसके कथन में परिहास है अथवा अनादिकता, प्लेटो की रचनाएँ कथोपकथन (Dialogues) के रूप में हैं। विश्व के ज्ञान भंडार के ये अमूल्य रत्न माने जाते हैं। इनमें सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है 'दि रिपबलिक'। यह एक स्वयं सम्पूर्ण पुस्तक है जिसमें धर्म, दर्शन, आचार शास्त्र, मनोविज्ञान, राजनीति, शिक्षण शास्त्र, कला विवेचन सब कुछ है। इतना ही नही बल्कि इसमे आपको साम्यवाद, समाजवाद, नारियो

के अधिकार, संतति-निरोध और प्रजनन-विद्या (यूजिनिक्स) जैसे विषय भी मिलेंगे। रूसो, बर्गसाँ, फ्रायड के सिद्धान्तों का आभास भी यहाँ देखने को मिलेगा। पण्डितों के लिये यह ग्रन्थ विश्व ज्ञान भण्डार है। एमसन ने लिखा है : "प्लेटो दर्शन है और दर्शन प्लेटो है।" खलीफ़ा उमर ने कुरान के सम्बन्ध में कहा था, "और सब पुस्तकालयों को जला डालो, क्योंकि उनका जो कुछ मूल्य है वह सब इस ग्रन्थ मे है।" प्लेटो के रिपब्लिक ग्रन्थ के सम्बन्ध में एमर्सन उमर को उक्ति की पुनरावृत्ति करना है।

वस्तुतः, प्लेटो था भावों का पुजारी। सुकरात सत्य, शिव एव सुन्दर को मानसिक उन्नयन द्वारा उपलब्ध करना चाहता था। और इसीलिए उसे अज्ञान एवं अधविश्वास से घृणा थी। किन्तु प्लेटो के लिए जीवन की समस्याओं का समाधान इतना सहज नही था। भाव राज्य का पुजारी होने पर भी उसे कल्पना राज्य में विचरण करने मे मानसिक आनन्द नही मिलता था। उसका मन कल्पना प्रवण अवश्य था और वह आकाश की तरह विशाल एवं समुद्र की तरह गंभीर कल्पना करता था, किन्तु उसे इस धरती पर ही मूर्त्त रूप देना चाहता था। कल्पना के साथ वास्तव का एक अपूर्व मिलन करके वह एक ऐसे रहस्यमय जीवन की अवतारणा करना चाहता था जो जीवन व्यापक होने के साथ-साथ मधुर एवं सुन्दर होगा। क्षितिज के छोर पर नील गगन जिस प्रकार भूमि को स्पर्श करके मधुर हो उठता है, उसी प्रकार यह वास्तव जगत भी स्वप्नालोक के साथ मिलकर सुन्दर एवं मधुर बन जायगा। अपने प्रगाढ़ ज्ञान के बल पर उसने अपने देश की सभ्यता का जो असुन्दर एवं परुष रूप देखा, उससे उसकी कल्पना को ठेस पहुँची। वह सभ्यता जरा-जीर्ण होकर अपनी सहज मानविक कोमलता खो चुकी थी। पैशाचिक लोभ-लालसा ने जिसे पंगु बना डाला था और गणतत्र के नाम पर जिसमें विलासिता एवं कापुरुषता को प्रश्रय मिल रहा था। यूनान की सभ्यता एवं संस्कृति अपनी सजीवता को खो कर पतन की

ओर अग्रसर हो रही थी। जाति को इस अराजक अवस्था से बचाने के लिए भावुक प्लेटो ने अत्याचारी राजाओं के राजत्व को आशीर्वाद दिया। उसका विश्वास था कि क्षात्र-शक्ति द्वारा जड़ता पर आघात करने से ही उसका विध्वंस-साधन हो सकेगा। किन्तु, यह नहीं हो सका। क्षात्र-शक्ति में अब सृष्टि करने की शक्ति नहीं रह गई थी। तीस अत्याचारियों के राज्यकाल में यूनान की अवस्था बिलकुल नष्ट-भ्रष्ट हो गई थी। अन्याय एवं अत्याचारों के विरुद्ध सर्वत्र हाहाकार मचा हुआ था, और विद्रोह की भावना उग्र से उग्रतर हो रही थी। सोलन और पेरिक्लिस ने अपनी साधना से जिस यूनान की सृष्टि की थी वह यूनान आज कहाँ रह गया था।

प्लेटो का स्वदेश-प्रेम अन्याय एवं अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह कर उठा। एक ओर यूनान के अभिजात वर्ग का औद्धत्य एवं निष्ठुर लोभ, और दूसरी ओर सर्वहारा का कातर क्रन्दन। प्लेटो की श्रेणी-मनोवृत्ति अभिजात वर्ग की समर्थक थी सही, किन्तु उसका भावुक मन अत्याचार-पीड़ितों की आर्त्त-पुकार पर रो उठा। इसका परिणाम हुआ उसके अन्तर में अहं के साथ उसकी श्रेणी-मनोवृत्ति का द्वन्द्व। इस द्वन्द्व से ही उसके कल्पना-प्रसूत रामराज्य 'यूटोपिया' का जन्म हुआ।

प्लेटो का यह रामराज्य उसके अन्तर की दुःसह वेदना की प्रतिकूल अवस्था के विरुद्ध विद्रोह की प्रतिमूर्त्ति है। उसका यह कल्पित रामराज्य उसे वास्तविक अवस्था से बहुत दूर ले गया। उसके इस रामराज्य में एक दार्शनिक राजा होगा। वह अनासक्त भाव से राज्य करेगा और प्रजा उस राज्य में निश्चिन्त होकर वास करेगी। वहाँ साम्राज्यवाद नहीं, गणतंत्र के नाम पर श्रेणी विशेष का एकाधिपत्य नहीं और शक्तिमानों के दुःसह भार को ढोने वाले दीन-दुर्बल मनुष्यों का दीर्घनिश्वास नहीं। वहाँ सब लोग परिश्रम करेंगे जिससे समाज में असामंजस्य न होगा। आदिम समाज की तरह संपत्ति पर सब मनुष्यों का अधिकार होगा। अवकाश के समय का उपयोग लोग

साहित्य, संगीत, कला आदि की चर्चा एवं साधना में करेंगे। नारी सार्वजनिक सम्पत्ति समझी जायगी, किन्तु इसका अर्थ चाहे जिस पुरुष के साथ जिस नारी का संयम नहीं होगा। पुरुष और नारी के प्रजनन-सबन्ध के ऊपर कठोर निरीक्षण होगा।

मार्क्स के समाजवाद के साथ प्लेटो के कल्पित गणराज्य का बहुत कुछ भेद था। सर्वहारा के एकाधिपत्य के साथ दार्शनिकों के अभिभावकत्व का सादृश्य होते हुए भी मार्क्स की दृष्टि में सर्वहारा का यह अधिनायकत्व अन्तिम अवस्था नहीं था। श्रेणी भेद लुप्त हो जाने पर इस अधिनायकत्व का अन्त हो जायगा।

प्लेटो मनीषी था जो लोग चिन्तक या मनीषी होते है वे आदर्शों की अवतारणा करते हैं, किन्तु उन आदर्शों को कार्य रूप मे परिणत करने के लिये तो कर्म-वीरों की ही आवश्यकता होती है। मार्क्स के आदर्श को लेनिन जैसे कर्मवीर ही रूप दे सकते थे।

अन्य महापुरुषों के मतवाद को लेकर उनका शिष्य-दल जिस तरह खींचतान करते है और अपने गुरु के उद्देश्य को विकृत बना देते हैं, उसी प्रकार प्लेटो के शिष्यों ने भी उसके मतवाद को विकृत किया और उस महापुरुष को भी कलंकित किया। बुद्ध, ईसा, मुहम्मद-सभी पैगम्बरों के साथ यही बात हुई है।

प्लेटो के जीवनकाल में ही यह बात देखी गई थी। उसका शिष्य डायजेनिस अत्याचारी शासक बन कर शासन-कार्य चलाता था। सिराकाज के सीजर के साथ प्लेटो के दार्शनिक राजा की क्या कोई तुलना हो सकती थी? प्लेटो को अपनी भूल मालूम हो गई थी और इसलिए वह अन्त में मनुष्य-द्वेषी बन गया था। मनुष्य की सदाशयता पर उसका विश्वास बिलकुल नहीं रह गया था। स्वभाव से विद्रोही होने पर भी वास्तविक क्षेत्र में उसका विद्रोह सफल नहीं हुआ। पराजित मन लेकर ही वह मनुष्य विद्वेषी बना था।

विभिन्न समस्याओं के सम्बन्ध में प्लेटो ने जो विचार प्रकट किये हैं उनकी कुछ बानगी यहाँ दी जाती है। पहले राजनीतिक समस्या को लीजिये। प्लेटो ने यह प्रश्न उठाया है कि मानव समाज का जो आदिम रूप था जिसमे सब लोग एक साथ मिल कर शान्ति-पूर्वक रहा करते थे और जो मनुष्य के लिए स्वर्गराज्य था वह अब चरितार्थ क्यों नहीं हो रहा है? इसका उत्तर वे इस प्रकार देते हैं—लोग इस समय लोभी और विलासी बन गए हैं। सरल जीवन व्यतीत करने में उन्हें संतोष नही होता। उनमें संग्रह करने की प्रवृत्ति आ गई है, वे महत्त्वाकांक्षी बन गए हैं, प्रतियोगिता द्वारा वे अपनी इस महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति करना चाहते हैं। उनके पास जो कुछ है उसमे सन्तुष्ट न होकर जो नहीं है उसके लिए तरसते हैं। दूसरे की वस्तुओ को लेने की कामना उनके मन मे उत्पन्न होती है। इसका परिणाम यह होता है कि एक जनसमूह अन्य जनसमूह के भूभाग पर बलपूर्वक अधिकार जमाना चाहता है, भूमि के समृद्धि साधनों के लिए प्रतिद्वन्द्विता होती है और फिर अन्त में युद्ध। राजस्व और व्यापार विकसित होते हैं और समाज में नये-नये वर्गों की सृष्टि होती है। एक साधारण नगर वस्तुतः एक न होकर दो होते हैं—एक गरीबों का नगर और दूसरा धनिकों का। फिर इसमें कई छोटे-छोटे वर्ग होते है। एक नई वणिक श्रेणी का उदय होता है। धन और ऊँचे रहन-सहन के बल पर समाज में यह अपनी स्थिति कायम करते हैं। धन के वितरण में इस प्रकार परिवर्तन होने से राजनीतिक परिवर्तन होते हैं। वणिक श्रेणी की धन-सम्पत्ति भूस्वामी वर्ग की धन-सम्पत्ति से बहुत बढ़ जाती है इसलिए अभिजाततन्त्र का स्थान धनिकतन्त्र ग्रहण कर लेता है— धनी व्यापारियो और बैंक मालिकों का शासन। ऐसी अवस्था में राजनीतिकता दब जाती है और दलगत राजनीति का बोलबाला शुरू हो जाता है जिसमें पदों के लिये छीना-झपटी होने लगती है।

प्रत्येक प्रकार का   अपने आधारभूत सिद्धान्त के प्रति

[illegible]य के कारण ध्वंसोन्मुख होने लगता है। अभिजाततन्त्र उस समय नाश को प्राप्त होने लगता है जब कि वह क्षमता को एक अति संकीर्ण परिधि के भीतर सीमित कर देता है; धनिकतन्त्र अति शीघ्र धनार्जन करने की छीना-झपटी में पड़ कर अपना नाश कर डालता है। दोनों ही अवस्थाओं की परिणति राज्य-शान्ति में होती है। राज्य-क्रान्ति के फलस्वरूप जब जनतन्त्र की प्रतिष्ठा होती है तब दरिद्र जनता अपने शत्रुओं को परास्त करके उनमें कुछ को मार डालती है और बाकी को देशनिर्वासित कर देती है। फिर सब लोग समान रूप से स्वतन्त्रता एवं क्षमता का उपभोग करते है।

किन्तु यह जनतन्त्र भी जनतन्त्र की अतिशयता के कारण अपना सर्वनाश कर डालता है। इसका आधारभूत सिद्धान्त है सब लोगों को पदग्रहण करने और शासन नीति निर्धारित करने का समान अधिकार। प्रत्यक्ष रूप में तो यह एक मनोरम व्यवस्था जान पड़ती है किन्तु आगे चल कर यह अमंगलजनक बन जाती है क्योंकि जनता इतनी शिक्षित नहीं होती कि वह अपने लिए सर्वोत्तम शासकों को चुन सके। साधारण जनता में समझदारी नहीं होती और वे शासकों द्वारा कही गयी बातो को ही दोहराते है। राष्ट्र के जहाज के लिए जनसमूह का शासन विक्षुब्ध सागर के समान है; । वाकपटुता रूपी वायु का प्रत्येक झोंका उसके जल को आलोड़ित और प्रवाह को विपथगामी बना देता है। इस प्रकार के जनतन्त्र का अन्त अत्याचार अथवा स्वेच्छाचारिता में होता है।

जनता की वृत्ति चंचल होती है। विचारबुद्धि की अपेक्षा वह भावना द्वारा अधिक परिचालित होती है। इसलिए राजनीतिक अधिकारियों को निर्वाचित करने का भार जनता के ऊपर छोड़ देना प्लेटो की दृष्टि में मूर्खतापूर्ण व्यापार है। अपने इस मत के पक्ष मे युक्ति देते हुए वह कहता है—जूता बनाने जैसे साधारण काम के लिए भी जब हम एक कारीगर, मोची की तलाश करते हैं तो फिर राज-नीति में हम कसे यह मान लेते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति जो नोट संग्रह करना

जानता है वह एक नगर या राज्य का प्रशासन करना भी अवश्य जानेगा। जब हम बीमार होते है हम एक कुशल चिकित्सक को बुलाते हैं, हम यह नहीं कहते कि सबसे रूपवान अथवा सबसे अच्छा बोलने वाला जो चिकित्सक हो उसे बुला लाओ। और जब राज्य बीमार हो तो क्या हमारे लिये यह उचित नहीं है कि हम उसके लिये ज्ञानियों एवं श्रेष्ठगणों की सेवा एवं पथ-प्रदर्शन की अपेक्षा करें। राजनीतिक दर्शन की समस्या यही है कि कोई ऐसा उपाय ढूंढ निकाला जाय जिससे अयोग्य एवं दुरात्माओं के लिये सार्वजनिक पद वर्जित रहें और शासन के लिये ऐसे चुने हुए लोग तैयार किये जा सकें जो जन कल्याण के लिये शासन भार ग्रहण करें।

राजनीतिक समस्याओ के मूल में मनुष्य की प्रकृति काम करती है। राजनीति को समझने के लिये हमें मनुष्य के मनस्तत्त्व को समझना होगा। जैसा मनुष्य वैसा राज्य। राज्य का निर्माण मनुष्यों की प्रकृति के अनुसार होता है। जैसे नागरिक होते हैं वैसा राज्य होता है इसलिए जब तक मनुष्य अच्छे नहीं होंगे तब तक अच्छे राज्य की हमें आशा नहीं करनी चाहिए। मनुष्य के आचरण के तीन मुख्य उत्स होते हैं : वासना, मनोवेग और ज्ञान। वासना, क्षुधा, भावावेग और अनावृत्ति ये सब एक हैं; मनोवेग, उत्साह, महत्त्वाकांक्षा, साहस—ये सब एक हैं, ज्ञान, विचार, बुद्धि, विवेक ये सब एक हैं। भिन्न-भिन्न मात्रा में ये सब शक्तियां और गुण मनुष्य मात्र में होते हैं। कुछ लोग वासनाओं के मूर्त्त रूप होते हैं; धन संचय के लिये वे बराबर बेचैन रहा करते हैं। उनके जीवन का लक्ष्य होता है भौतिक सुख। ऐसे मनुष्य उद्योगों का संचालन करते हैं और उन पर अपना प्रभुत्व कायम करते हैं। कुछ लोग साहसी प्रकृति के होते हैं। वे धन संचय की अपेक्षा अधिकार प्राप्त करने में अधिक गर्व का अनुभव करते हैं। उन्हें बाजार में नहीं युद्धभूमि में आनन्द मिलता है। ऐसे लोगों को लेकर ही संसार की सेनाओं एवं नव-सेनाओं का गठन होता है। एक तीसरी श्रेणी के मनुष्य

वे होते हैं जो धन सम्पत्ति एवं विजय के लिये लालायित न रहकर चिन्तन एवं ज्ञानार्जन में आनन्द प्राप्त करते हैं। ये बाजार और युद्ध क्षेत्र दोनो से पृथक रहकर एकान्तवास करते हुए चिन्तन एवं मनन करते रहते है। उनकी इच्छाशक्ति अग्नि न होकर प्रकाश होती है। उनका आश्रय-स्थल अधिकार नहीं सत्य होता है। ऐसे मनुष्यों की संख्या बहुत कम होती है, किन्तु ये ज्ञानी हैं। संसार इनका उपयोग नहीं करता और ये अपने को पृथक् रखते हैं।

एक सर्वगुण सम्पन्न राज्य में औद्योगिक शक्तियाँ धनोत्पादन करेंगी, शासन नहीं, सामरिक शक्तियाँ राज्य का शासन न करके उसकी रक्षा करेंगी; ज्ञान, विज्ञान एवं दर्शन की शक्तियाँ उपर्युक्त शक्तियों द्वारा पोषित एवं रक्षित होंगी और वे शासन करेंगी। जब तक जनता एक व्यवस्थाहीन जनसमूह बनी रहती है। जिस प्रकार वासनाओं को ज्ञानालोक की आवश्यकता होती है उसी प्रकार जनता को दार्शनिकों के पथ-प्रदर्शन की। सर्वनाश का आगमन तब होता है जब कि वणिक—जिसका हृदय धन-मद से स्फीत रहता है—शासक बन बैठता है, या सेनापति सामरिक अधिनायकतंत्र की स्थापना के लिये अपनी सेना का उपयोग करता है। आर्थिक क्षेत्र में उत्पादनकारी का तथा युद्ध क्षेत्र मे एक योद्धा का सर्वोत्तम रूप देखा जा सकता है। सार्वजनिक पदो के लिए वे सर्वथा अनुपयुक्त होते हैं। उनके स्थूल हाथों में पड़ कर राजनैतिक छल छन्द राजनीतिज्ञता को अभिभूत कर देता है। राज-नीतिज्ञता एक विज्ञान एवं कला है। इसके लिये जीवन धारण करना होता है और बहुत समय तक तैयारी करनी पड़ती है, केवल दार्शनिक-राजा ही राष्ट्र का भाग्य सूत्र परिचालन करने योग्य हो सकता है, जब तक ऐसा नही होता तब तक मानव जाति का कल्याण नहीं।

४

अरिस्टाटिल

अरिस्टाटिल के सम्बन्ध में सिसरो ने लिखा है कि ज्ञान-विज्ञान का ऐसा कोई भी विषय न था जिससे वह परिचित न हो। एक ओर जहां वह बहुत बड़ा वाग्मी था वहां दूसरी ओर उसकी प्रतिभा बड़ी तीक्ष्ण थी। उसके विचारों में उर्वरता तथा बुद्धि नव-नवोन्मेषणचिनी थी। रेनन ने अरिस्टाटिल को विज्ञान का जनक बताया है। अरिस्टाटिल की प्रकाण्ड विद्वता का अनुमान इस बात से तो किया जा सकता है कि उसने कई सौ ग्रन्थों की रचना की थी। कुछ प्राचीन लेखकों के अनुसार वह चार सौ ग्रन्थों का और दूसरों के अनुसार एक हजार ग्रन्थों का रचयिता था। ग्रन्थों की संख्या चाहे जो भी हो, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसने जितने विषयों पर पुस्तक प्रणयन किया था वे एक पुस्तकालय के लिये पर्याप्त थे। तर्क शास्त्र, भौतिकी, खगोल-विद्या, विकास एवं काम, वायु-विज्ञान, प्रकृति-वृत्त, आत्मविद्या, जन्तु-विज्ञान, सौन्दर्य शास्त्र, अलंकार शास्त्र, काव्य शास्त्र, मनोविज्ञान राजनीति, आचार-नीति शास्त्र और दर्शन इन सब विषयों पर उसने गम्भीर विवेचन किया है। दर्शन शास्त्र में उसने ऐसे कितने ही पदों

की उदभावना की जिन का व्यवहार आज भी हम अनिवार्य रूप से करते हैं। सच तो यह है कि शताब्दियों तक उसके जैसा मनीषी एवं दार्शनिक यूरोप में उत्पन्न नहीं हुआ।

अरिस्टाटिल का जन्म ई० पू० ३८४ में स्टागिरा में हुआ था। स्टागिरा मेसेडन साम्राज्य का एक नगर था। उस समय मेसेडन का राजा फिलिप था। उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ जो आगे चल कर विश्वविजयी सिकन्दर के रूप में विख्यात हुआ। अपने इस पुत्र के जन्म पर अरिस्टाटिल के प्रति अभिवादन ज्ञापित करते हुए फिलिप ने लिखा : "आपको ज्ञात हो कि मुझे एक पुत्र रत्न प्राप्त हुआ है। इसके लिये मैं देवताओं को धन्यवाद देता हूँ, और वह धन्यवाद विशेष कर इसलिये कि इस बालक का जन्म आपके समय में हुआ है। मुझे आशा है कि आपके पर्यवेक्षण में शिक्षा प्राप्त करके वह अपने को राज्य का योग्य उत्तराधिकारी सिद्ध करेगा।" जिस समय फिलिप ने यह पत्र अरिस्टाटिल को लिखा था उस समय उसकी अवस्था तीस वर्ष की भी नहीं हुई थी। किन्तु इस अल्प अवस्था मे ही उसकी ख्याति सर्वत्र फैल गयी थी।

अरिस्टाटिल का पिता एक विद्वान चिकित्सक था जो फिलिप के पिता का दरबारी चिकित्सक था। मेसेडन के राज दरबार के साथ पिता का सम्बन्ध होने के कारण इसका विशेष प्रभाव उसके जीवन एवं जीवन यात्रा प्रणाली पर पड़ा। उसका अध्ययन प्लेटो की शिक्षण शाला में आरम्भ हुआ। प्लेटो की दृष्टि में वह विद्यालय का सबसे बढ कर मेधावी छात्र था। अरिस्टाटिल जिस समय सामुद्रप्राणिविद्या पढ़ रहा था उसे राजा फिलिप के पुत्र अलेक्जेन्डर को पढ़ाने का आदेश पत्र मिला। इसका अर्थ यह नहीं था कि अरिस्टाटिल अलेकजेन्डर का निजी शिक्षक नियुक्त किया गया था। उसने अपना एक विद्यालय राजधानी से दूर एक अन्य प्रदेश मे स्थापित किया था यहीं अलेक-

उपदेशों पर मनन करते थे। विद्या मन्दिर के आस-पास सघन वृक्षों की छाया में शिष्यगण आचार्य के आसन के समीप बैठ कर या उनके साथ विचरण करते हुए उनसे शिक्षा ग्रहण करते थे। अरिस्टाटिल के जितने शिष्य थे सब उसकी बड़ी श्रद्धा करते थे। अलेकजेन्डर की श्रद्धा भी किसी से कम नहीं थी, किन्तु उसकी श्रद्धा अंध श्रद्धा नहीं थी। अरिस्टाटिल की विद्वता एवं बुद्धिमत्ता का वह प्रशंसक था अवश्य, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि गुरु के वाक्य उसके लिये ईश्वर वाक्य थे। एक दिन अरिस्टाटिल ने अपने एक शिष्य से पूछा, "अपने पूर्वज के राजसिंहासन पर जब तुम आसीन होगे उस समय क्या करोगे?" युवक शिष्य ने बड़ी नम्रता से उत्तर दिया कि संकट काल उपस्थित होने पर वह अपने पुराने शिक्षक की सलाह लेगा और उसे मान कर चलेगा। एक दूसरे राजकुमार से भी यही प्रश्न किया गया और उसने भी पहले के समान ही उत्तर दिया। फिर जब यही प्रश्न तरुण अलेकजेन्डर से किया गया तब उसने उत्तर दिया: "मैं या कोई भी व्यक्ति नहीं कह सकता कि कल क्या होगा। जब समय आयगा, आप मुझसे फिर यह प्रश्न करें, और तब उस समय जैसी अवस्था होगी उसके अनुसार मैं उत्तर दूंगा।"

अरिस्टाटिल के प्रति अलेकजेन्डर की श्रद्धा और स्नेह छात्र के जीवन के बाद भी बहुत दिनों तक बना रहा। उसका कथन था। "मेरे पिता मेरे जीवनदाता हैं। अरिस्टाटिल से मुझे यह ज्ञान प्राप्त हुआ कि मनुष्योचित जीवन किस प्रकार धारण किया जाता है।" जिस समय अरिस्टाटिल जीव विज्ञान सम्बन्धी अनुसंधान में लगे हुए थे अलेकजेन्डर ने उनकी सेवा मे एक हजार मनुष्य नियुक्त कर दिये थे। उनका काम था पशु, पक्षी और मछलियों के विशिष्ट लक्षणों और अभ्यासों का कार्य पर्यवेक्षण करने में अरिस्टाटिल की सहायता करना। अलेकजेन्डर मुक्तहस्त होकर उन्हें आर्थिक सहायता भी दिया करता था। बहुत से मूल्यवान ग्रन्थ और पाण्डुलिपियाँ उन्हें प्राप्त हुई थीं जिन्हें वे

अन्य किसी भी उपाय से प्राप्त नहीं कर सकते थे।

जब अलेक्जेन्डर ने एशिया महादेश के लिए प्रस्थान किया, अरिस्टाटिल एथेन्स लौट आये जो उस समय केवल ग्रीस का ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण पाश्चात्य जगत का सांस्कृतिक केन्द्र था। यहाँ आकर पचास वर्ष की अवस्था में अरिस्टाटिल ने एक विद्यालय खोला। दल के दल शिक्षार्थी वहाँ उस युग के सर्वप्रधान दार्शनिक के उपदेशों से लाभ उठाने के लिए पहुँचने लगे। उनके शिक्षण का विषय क्षेत्र बहुत व्यापक था। दर्शन से लेकर काव्य शास्त्र और जीव विज्ञान सभी उसके शिक्षण के अन्तर्गत आ जाते थे।

जीवन के अन्तिम वर्षों में अरिस्टाटिल को कितनी ही जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ा। अलेकजेन्डर ने उसके भतीजे को फाँसी की सजा इसलिए दी थी कि उसने उस (अलेकजेन्डर को) देवता मानकर उसकी पूजा करना अस्वीकार कर दिया था। अरिस्टाटिल ने इसका प्रतिवाद किया। इस प्रतिवाद का उत्तर देते हुए अलेकजेन्डर ने यह संकल्प किया था कि वह एक सर्वशक्तिमान शासक है और वह दार्शनिकों को भी प्राणदण्ड देने की क्षमता रखता है। इधर अलेकजेन्डर के विरोधी एथेन्सवासी अलेकजेन्डर का पक्ष ग्रहण करने के कारण अरिस्टाटिल से रुष्ट हो गये थे। ग्रीस के नगर राज्यों के प्रति देशभक्ति की भावना की अपेक्षा अरिस्टाटिल सारे देश की अखण्ड रचना को अधिक श्रेय समझता था। उसका विचार था कि खण्ड-खण्ड सार्वभौम सत्ता धारी राज्यों के नहीं रहने पर जब सारा देश एकबद्ध हो जायगा उस समय संस्कृति एवं ज्ञान-विज्ञान की विशेष उन्नति होगी। और अलेकजेन्डर को वह इस एकता का मूर्त रूप समझता था। अरिस्टा-टिल के इस विचार का एथेन्सवासियों ने तीव्र विरोध किया। उनकी कटुता उस समय और भी बढ़ गयी जब कि अलेकजेन्डर ने अरिस्टाटिल की एक प्रस्तर मूर्ति नगर के मध्य में स्थापित कर दी। इससे उसके

शत्रुओं की संख्या बहुत बढ़ गयी और वे उसके निर्वासन या मृत्यु के लिए षड्यन्त्र और चीत्कार करने लगे।

इसी समय अचानक (ई० पू० ३२३) अलेकजेन्डर की मृत्यु हो गयी, सारे एथेन्स के निवासी देशभक्तिजनित आनन्दोल्लास में उन्मत्त हो उठे। मेसेडन का जो राजनीतिक दल शासन कर रहा था उसे परास्त करके एथेन्स की स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी गयी। अब अरिस्टाटिल ने देखा कि उसके लिए एथेन्स में रहना मंगलजनक नहीं है। उसके विरुद्ध एक पुरोहित ने यह अभियोग लगाया कि वह लोगों को यह शिक्षा देता है कि देवताओं की प्रार्थना और उनके निमित्त बलिदान व्यर्थ है। अरिस्टाटिल को यह स्पष्ट मालूम होने लगा कि यहाँ रहने से उसकी भी यही दशा होगी जो साक्रेटिस की हुई थी। साक्रेटिस की अपेक्षा जनगण उसके अधिक विरोधी हो गये थे। इसलिए नगर छोड़ देने में ही उसने बुद्धिमानी समझी। इस प्रकार पलायन करने में उसकी भीरुता नहीं थी क्योंकि एथेन्स के कानून के अनुसार वहाँ के किसी अभियुक्त व्यक्ति को दण्ड के बदले निर्वासन स्वीकार करने का अधिकार था। अरिस्टाटिल एथेन्स छोड़ कर चैलासिस चला आया। कुछ ही दिनों के बाद वह रोगग्रस्त हुआ और सब प्रकार से अपना भाग्य विपर्यय समझ कर घोर निराशा में उसने विषपान द्वारा आत्महत्या कर ली।

इसी साल (३२२ ई० पू०) उसी अवस्था अर्थात् ६२वें वर्ष में अलेकजेन्डर के सबसे बड़े शत्रु डिमास्थनीज ने भी विषपान करके आत्मघात कर लिया। इस प्रकार एक साल के अन्दर ही ग्रीस ने अपने सबसे महान् शासक, सबसे बड़े वाग्मी और सबसे बड़े तत्त्वज्ञानी को खो दिया। इसके साथ ही उसकी महिमा का सूर्य भी अस्त हो गया और नवीन रोमन साम्राज्य का अरुणोदय हुआ।

अरिस्टाटिल ने अपने जीवनकाल में जो ज्ञानालोक प्रज्वलित

किया था उससे सम्पूर्ण विश्व को आलोक मिला। बाद के युगों में भी एक महान् दार्शनिक एवं मनीषी के रूप में उसे मान्यता मिलती रही। आचार-नीति शास्त्र, काव्य शास्त्र, राजनीति एवं अलंकार शास्त्र की केवल उसने शिक्षा ही नहीं दी बल्कि सम्पूर्ण नूतन रूप में उन पर आलोकपात किया। उसके दर्शन ने मध्य युग के अनेक दार्शनिकों एवं कवियों को प्रभावित किया।

युग-युग से आधुनिक सभ्यता के निर्माण में अरिस्टाटिल के विचारों का जो प्रभाव पड़ता आ रहा है उस पर यदि हम विचार करें तो हमें श्रद्धा से नतमस्तक हो जाना पड़ता है। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में उसके जो दान हैं उनके कारण संस्कृति के इतिहास में उसका नाम अमर हो गया है। परस्पर विरोधी विभिन्न दर्शनों के बीच आज भी उसकी दार्शनिक प्रणाली मान्य समझी जाती है। ईसाई धर्मतत्त्व के भाष्यकारों ने अपनी रचनाओं में इस 'मूर्त्तिपूजक' की चिन्तन प्रणाली को प्राय: ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया है। 'आरगेनन' ग्रन्थ मे तर्क शास्त्र के नियमों का निरूपण किया गया है। अलंकार शास्त्र पर रेटोरिक नामक ग्रन्थ उसकी सर्वतोमुखी प्रतिभा का द्योतक एक अनुपम कृति है। भौतिकी, आध्यात्मविज्ञान और 'टापिकस' में उसके ज्ञान के वैविध्य तथा उसकी सूक्ष्म विचार प्रणाली के दर्शन होते हैं। 'On the Soul' पुस्तक में उसकी बुद्धि ने जीव-विज्ञान एवं मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश किया है। काव्य शास्त्र पर उसकी जो छोटी सी कृति है वह आज भी साहित्य-समालोचना शास्त्र के जिज्ञासुओं के लिए पठनीय है। किन्तु पाश्चात्य जगत पर उसके जिन दो ग्रन्थों का प्रभूत प्रभाव पड़ा है वे हैं 'एथिकस' और 'पॉलिटिक्स' अर्थात् आचार नीतिशास्त्र और राजनीति। मध्ययुग और आधुनिक काल में समान रूप से इन दो विषयों में उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों ने राजनीतिज्ञों और दार्शनिकों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। इस प्रकार मानवीय चिन्तन का ऐसा कोई विभाग नहीं जिस पर अरिस्टा-

टिल की शिक्षाओं का आलोकमय जीवन्त प्रभाव न पड़ा हो।

राजनीति के सम्बन्ध में अरिस्टाटिल के विचार रक्षणशील थे। साधारण मनुष्यों द्वारा शासन अथवा साधारणतंत्र में उसकी आस्था नहीं थी। वह शान्ति, सुरक्षा एवं सुव्यवस्था को किसी उग्र राजनीतिक परिवर्तन की अपेक्षा अधिक महत्त्व देता था। उसके मत से शासनतंत्र में बिना किसी विशेष प्रयोजन के परिवर्तन करने से नागरिकों को लाभ कम और हानि अधिक होती है। इसलिए कानून में या शासक में यदि दोष, त्रुटियाँ हों तो नागरिकों को एक दार्शनिक की तरह शान्त भाव से उन्हें सहन कर लेना चाहिये।

अपने गुरु प्लेटो के साम्यमूलक गणराज्य के विरुद्ध अरिस्टाटिल ने अपना मत व्यक्त किया है। वह व्यक्ति की योग्यता उसकी स्वतंत्रता एवं निजत्व को सामाजिक कार्यपटुता एवं क्षमता की अपेक्षा अधिक महत्त्व देता था। प्लेटो ने जिस आदर्श राज्य की कल्पना की थी उसमे सब लोग परस्पर एक समान होंगे। स्त्रियों और बच्चों पर सबका अधिकार होगा। अरिस्टाटिल का कथन था कि इस प्रकार के राज्य मे प्रेम में स्थिरता नहीं होगी। किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति वास्तविक प्रेम तभी हो सकता है। जब कि प्रेम करने वाले व्यक्ति में यह भावना हो कि वह वस्तु उसकी अपनी है। आदिम समाज का रूप भला ही साम्यमूलक रहा हो किन्तु वर्तमान श्रेणी विभक्त समाज में साम्यवाद के लिए कोई स्थान नही हो सकता। मनुष्यों में जो नैसर्गिक असमानता है उसके साम्य की भावना काम नही कर सकती। साम्यवादी समाज में श्रेष्ठतम योग्यता वाले व्यक्ति को अपनी योग्यता के बल पर उद्यम करने के लिए पर्याप्त प्रेरणा नहीं मिल सकती। दुष्कर कार्य करने के लिए यह आवश्यक है कि उसके मूल में लाभ की भावना हो। इसी प्रकार कृषि, उद्योग आदि के लिए भी व्यक्तिगत स्वामित्व की भावना आवश्यक है। जब समाज की सम्पत्ति पर सब लोगों का स्वामित्व

होगा तब किसी वस्तु की कोई रक्षा नहीं करेगा। "जिस वस्तु पर बहुसंख्यक मनुष्यों का अधिकार होता है उस पर सबसे कम ध्यान दिया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति पहले अपनी चीज़ के बारे में सोचता है, सार्वजनीन स्वार्थ की जो वस्तु होती है, उस पर कदाचित् ही कोई स्थान देता है।

औसत मनुष्य के स्वभाव में देवत्व की अपेक्षा पशुत्व की प्रबलता होती है। अधिकांश मनुष्य स्वभावत: अबोध एवं आलसी होते है। किसी भी शासन पद्धति में ऐसे मनुष्य समाज के निम्नतम स्तर में ही पड़े रहेंगे। राज्य की ओर से अर्थ देकर इन्हें सहायता पहुँचाना वैसा ही है जैसा कि छिद्र वाले बर्तन में पानी ढालना। राजनीति में ऐसे मनुष्य शासित और उद्योग में परिचालित होंगे यदि सम्भव हो तो उनकी सम्मति से अथवा आवश्यक होने पर बिना सम्मति के। 'जन्म काल से ही कुछ मनुष्य दूसरों की अधीनता मे और कुछ आदेश देने के लिये निर्दिष्ट रहते हैं। जो मनुष्य मन से भावी काल के सम्बन्ध में सोच सकता है वह स्वभावत: प्रभु और स्वामी बनेगा, और जो केवल शरीर से कार्य कर सकता है वह स्वभावत: दास बनेगा।" शरीर और मन का जो सम्बन्ध है वही सम्बन्ध स्वामी और दास का है। जिस प्रकार शरीर को मन के आधीन रहना चाहिये इसी प्रकार "सब निकृष्ट मनुष्यों के लिये यह अच्छा है कि वे एक प्रभू के शासन में रहें।"

अरिस्टाटिल का यह दर्शन उस समय ग्रीस देश के उच्च वर्ग के लोगो में शारीरिक श्रम के लिए जो घृणा की भावना थी उसी का द्योतक है। अरिस्टाटिल दर्शन की उच्च भूमि पर अवस्थित होकर श्रम करने वाले मनुष्यों को जब देखता था तब उसे लगता था कि बिना बुद्धि ये मनुष्य केवल दास होने योग्य हैं। उसका विश्वास था कि शारीरिक श्रम मनुष्य की बुद्धि को मन्द एवं हीन बना देता है और राजनीतिक

बुद्धिमत्ता के लिए न तो उसके पास समय रहता है न शक्ति । इसलिए शासन कार्य में उन्हीं लोगों को स्थान मिलना चाहिये जिन्हें कुछ अवकाश प्राप्त हो । वणिकों और धनपतियों की गणना भी वह दासों में करता था, सूदखोरी को वह सबसे घृणित व्यवसाय समझता था, क्योंकि इसमें द्रव्य का स्वाभाविक उपयोग न होकर द्रव्य से द्रव्य पैदा किया जाता है । रुपये से रुपये पैदा करना सर्वथा अस्वाभाविक है ।

स्त्रियों के सम्बन्ध में अरिस्टाटिल के विचार अत्यन्त संकीर्ण थे । प्रभु और दास में, शारीरिक श्रम करने वाले और मानसिक श्रम करने वाले में, एक वर्ब्बर और एक ग्रीक में जो अन्तर है वही अन्तर स्त्री और पुरुष में है । पुरुष स्वभाव से ही श्रेष्ठ अर स्त्री हीन है । पुरुष शासक और स्त्री शासित है । नारी की इच्छाशक्ति दुर्बल होती है, इसलिए वह किसी स्वतन्त्र पद के लिये अक्षम है । उसके लिए सर्वोत्तम पद गृहिणी का है जहाँ के शान्त जीवन में रह कर वह घरेलू विषय में अपनी सर्वप्रधान सत्ता का उपयोग कर सकती है । स्त्री को पुरुष के समान नहीं होना चाहिए, दोनों में जो असमानता है वही आकर्षक है । पुरुष का साहस आदेश देने में और नारी का आदेश पालन करने में देखा जाता है ।

विवाह के सम्बन्ध में अरिस्टाटिल पुरुष को परामर्श देता है कि वह ३७ वर्ष की अवस्था के लगभग पहुँचने पर २० वर्ष की लड़की से विवाह करे । तीस वर्ष के वर के लिए वह २० वर्ष की कन्या को उपयुक्त पात्री मानता है । नर और नारी की वैवाहिक अवस्था में इसलिये अन्तर होना चाहिए कि यदि नर में सन्तान उत्पन्न करने की क्षमता बनी रहेगी और नारी इसके लिये अक्षम हो जायगी तो दोनों में कलह और मतभेद उपस्थित होंगे । कम अवस्था में नर नारियों में विवाह नहीं होना चाहिए क्योंकि इससे जो सन्तान उत्पन्न होगी उसका शारीरिक विकास ठीक तरह से नहीं होगा और अधिक संख्या स्त्री सन्तान की होगी । प्रेम की अपेक्षा स्वास्थ्य अधिक महत्त्वपूर्ण है,

इसलिए विवाह विषय को युवक-युवती की इच्छा पर न छोड़ कर राज्य को इस पर निरीक्षण एवं नियन्त्रण रखना चाहिए। राज्य ही पुरुष और स्त्री की वैवाहिक अवस्था, गर्भाधान का सर्वोत्तम समय और जनसंख्या में किस गति से वृद्धि होगी यह सब निश्चित कर दे। अरिस्टाटिल के मत से किसी राज्य की जनसंख्या १० हजार से अधिक वांछनीय नहीं है।

अरिस्टाटिल के विचार से शिक्षा पर राज्य का नियन्त्रण होना चाहिए। "किसी राज्य के संविधान के स्थायित्व के लिये यह आवश्यक है कि वहाँ की शिक्षा-पद्धति को शासन प्रणाली के अनुकूल बनाया जाय। जिस शासन प्रणाली के अन्दर नागरिक रहते हैं उसके अनुकूल उसके जीवन को ढालना होगा।" विद्यालयों पर राज्य का नियन्त्रण होने से हम मनुष्य के मन को वाणिज्य और व्यवसाय से हटा कर कृषि की ओर प्रवृत्त कर सकते हैं और व्यक्तिगत सम्पत्ति रखते हुए भी उन्हें इस बात की शिक्षा दे सकते हैं कि वे सर्वजनहितार्थ अपनी सम्पत्ति का उपयोग करें। सबसे बढ़कर आवश्यक यह है कि नागरिकों को राज्य की विधियों (कानूनों) का पालन करने की शिक्षा दी जाय, अन्यथा राज्य का अस्तित्व असम्भव है। राज्य की ओर से विद्यालयों पर नियन्त्रण होने से ही विभिन्न जातियों के बीच सामाजिक एकता स्थापित हो सकती है। एक राज्य में बहुजातियों का वास होता है। उसे एक अखण्ड समाज में शिक्षा द्वारा ही परिणत किया जा सकता है। तरुणों को इस बात की शिक्षा दी जाय कि राज्य के रूप मे उन्हें एक बहुत बड़ा आशीर्वाद प्राप्त है। राज्य के रूप में सामाजिक संगठन के अन्दर रह कर वे सुरक्षा और उसकी विधियों से स्वतन्त्रता प्राप्त करते हैं। सामाजिक नियन्त्रण के अन्दर रह कर ही मनुष्य सद्गुण अर्जन कर सकता है। वाणी द्वारा मनुष्य ने समाज का विवर्तन किया, समाज द्वारा बुद्धिमत्ता का, बुद्धिमत्ता द्वारा व्यवस्था का और व्यवस्था द्वारा सभ्यता का। इस प्रकार के सुव्यवस्थित राज्य में

ही व्यक्ति के लिये आत्मविकास के सहस्रों सुयोग प्राप्त हो सकते हैं जो एकांकी जीवन में कभी सम्भव नहीं हैं। "एकांकी जीवन व्यतीत करने के लिए या तो मनुष्य को पशु बनना होगा अथवा देवता।"

सिद्धान्त के रूप में अरिस्टाटिल ऐसे शासनतन्त्र को सर्वोत्तम मानता था जिसमें समस्त राजनीतिक सत्ता एक श्रेष्ठ व्यक्ति के हाथ में केन्द्रित हो। किन्तु व्यावहारिक रूप में वह राजतन्त्र को सबसे अधम शासन प्रणाली मानता था क्योंकि महान् शक्तिशाली व्यक्ति में प्रायः महत् गुणों का अभाव देखा जाता है। इसलिए उसकी दृष्टि में अभिजाततन्त्र अर्थात् कतिपय सुयोग्य एवं ज्ञानीजनों का शासन सर्वोत्तम था। शासनकार्य एक ऐसा जटिल विषय है कि उससे सम्बन्धित सारे प्रश्न संख्या के बल पर हल नहीं किए जा सकते। "जिस प्रकार एक चिकित्सक की योग्यता की परख एक चिकित्सक ही कर सकता है उसी प्रकार सामान्य मनुष्यों के सम्बन्ध में उसके समतुल्य व्यक्ति ही विचार कर सकते हैं। निर्वाचनों के सम्बन्ध में भी क्या यही सिद्धान्त लागू नहीं होता? ठीक-ठीक निर्वाचन वे ही कर सकते हैं जो जानकार हैं, जिस प्रकार एक रेखागणित का ज्ञाता रेखागणित के विषयों में ठीक ठीक निर्वाचन कर सकता है; अथवा एक कर्णधार नौविद्या के विषय में।"

धनिकतन्त्र की अपेक्षा जनतन्त्र श्रेयस्कर होने पर भी अरिस्टाटिल की दृष्टि में वह अभिजाततन्त्र की तुलना में निकृष्ट है। क्योंकि यह समानता की मिथ्या धारणा पर आधारित है। इसकी उत्पत्ति इस धारणा से होती है कि जो लोग किसी एक बात में समान हैं वे सब विषयों में समान होंगे, सब मनुष्य समान रूप में स्वतन्त्र हैं इसलिए उनका दावा है कि वे बिलकुल समान हैं।" इसका परिणाम यह होता है कि संख्या के सामने योग्यता की कोई पूछ नहीं होती और बहुमत प्राप्त करने के लिए तरह-तरह की चालें चली जाती हैं। जनता को आसानी से गुमराह किया जा सकता है क्योंकि उसके विचार स्थिर

नहीं होते, इसलिए मताधिकार बुद्धिमान लोगों तक ही सीमित रहना चाहिए। अभिजाततन्त्र और जनतन्त्र दोनों के सम्मिश्रण की हमें आवश्यकता है। हमारा राज्य पर्याप्त रूप में गणतांत्रिक होगा यदि उसके अन्तर्गत प्रत्येक पद का मार्ग सबके लिये उन्मुक्त कर दिया जाय और पर्याप्त अभिजातिक होगा जब कि सारे पद मात्र ऐसे लोगों को छोड़ कर, जिन्होंने उस मार्ग से यात्रा की है और पूर्णतया प्रस्तुत होकर वहाँ पहुँचे है, बाकी सब लोगों के लिये बन्द रखे जायँ। अपनी चिरन्तन राजनीतिक समस्या पर चाहे जिस दृष्टिकोण से विचार करें हम बार बार एक ही परिणाम पर पहुँचते हैं कि समाज का काम है लक्ष्य निश्चित करना, किन्तु लक्ष्य तक पहुँचने के जो साधन होंगे उनका निर्वाचन और प्रयोग एकमात्र विशेषज्ञ ही करेंगे।

५

लिओनार्दो दाविन्ची

मानव सभ्यता के इतिहास में ज्ञानी, गुणी एवं प्रखर प्रतिभाशाली व्यक्तियों के अनेक दृष्टान्त मिलते हैं। अपने ज्ञान की उज्ज्वल दीप्ति एवं प्रतिभा के चमत्कार से लोगों को चकित एवं विस्मित कर देने वाले मनस्वी एवं वैज्ञानिक आज भी संसार के विभिन्न देशों में विद्यमान हैं। किन्तु आज से पाँच सौ वर्ष पूर्व जब हम एक ऐसे अप्रतिम प्रतिभाशाली व्यक्ति को जन्म ग्रहण करते पाते है जिनके नाम को एक साथ ही चित्रकला, स्थापत्य, भास्कर्य, गणितशास्त्र, मन्त्रनिर्माण, शरीर-विज्ञान और दर्शन के साथ संयुक्त किया जाता है तो सचमुच हम विस्मय से अभिभूत हो जाते है। यह व्यक्ति थे लिओनार्दो दाविन्ची। अपने युग से वे बहुत आगे थे। कला एवं विज्ञान का अपूर्व समन्वय उनमें पाया जाता था।

विश्व चित्रकला के इतिहास में दाविन्ची का नाम अविस्मरणीय है। उनका 'मोनालिसा' चित्र आज भी अपने रहस्यपूर्ण स्मितहास्य के लिये अनुपम बना हुआ है। शताब्दियाँ बीत गयीं किन्तु इस अभूतपूर्व प्रतिभाशाली पुरुष की कीर्त्ति अम्लान बनी हुई है। देश-विदेश के रस-विदग्धों एवं कलामर्मज्ञों के बीच दाविन्ची आज भी समान रूप से वरेण्य बने हुए हैं। यूरोप के नव-जागरण युग का समस्त ज्ञानलोक

मानो इस एक ही व्यक्ति में केन्द्रित होकर प्रस्फुटित हो उठा था। इटली के नव-जागरण के युग में जिन सब कलाकारों एवं चिन्तकों का आविर्भाव हुआ था उनमें लिओनार्दो दामिनूची, माइकेल ऐञ्जिलो और रैफेल अपनी कला-निपुणता के लिये अमर हैं। ये तीनों कलाकार सम-सामयिक थे और एक ही शहर फ्लोरेन्स के निवासी थे। इनमें लिओ-नार्दो दामिनूची वयस और प्रतिभा दोनों में श्रेष्ठ थे। केवल चित्रकला मे ही नहीं संगीत एवं स्थापत्य, विज्ञान एवं यन्त्र विद्या में भी उनकी पार-दर्शिता थी।

सन् १४५२ ई० में मलदियार्नो नदी के तट पर अवस्थित मिनूची नामक ग्राम में उनका जन्म हुआ था। उनके पिता कानून का व्यवसाय करते थे। उनकी माता ने पुत्र का जन्म ग्रहण करने के कुछ समय बाद उसी ग्राम के एक दूसरे पुरुष से विवाह कर लिया। पिता गाँव छोड़ कर फ्लारेन्स चले आये। यहीं पिता की देख-रेख में लिओ-नार्दो का लालन-पालन और शिक्षा-दीक्षा हुई। बाल्यकाल में ही उन्होंने अपनी प्रतिभा एवं तीक्ष्ण बुद्धि का परिचय दिया। उस समय से ही शिल्प एवं विज्ञान के प्रति उनका अनुराग देखा जाने लगा। उनकी मेधा एवं ज्ञानार्जन की प्रवृत्ति देखकर पिता की इच्छा हुई पुत्र को विद्वान् बनाने की किन्तु उनकी प्रतिभा का प्रकाश विद्याचर्चा की अपेक्षा कला के क्षेत्र में ही विशेष रूप से प्रतिभासित होने लगा। जिस समय वे निरे बालक थे उस समय से ही प्रकृतिपर्यवेक्षण मे उनका चित्त रमने लगा। पशु-पक्षी, कीट-पतंग से लेकर सूर्योदय और सूर्यास्त की वर्ण-विचित्रता, रात्रि में आकाशमण्डल के तारे और नक्षत्र सब उनकी जिज्ञासा और कौतूहल को उद्दीप्त करने लगे। उनकी मनस्विता को देखकर पिता ने पुत्र की शिक्षा का भार स्वयं अपने ऊपर लिया। उन्हे एक विद्यालय में भेजा गया। किन्तु विद्यालय की शिक्षा उन्हें रुचिकर नही लगी। विद्यालय का बंधा बंधाया पाठ्यक्रम और विधि नियम से उन्हें विरक्ति हो उठी। संगीत, चित्र और मूर्ति निर्माण की ओर उनका

विशेष झुकाव देख कर उनके पिता एक दिन उनके बनाये हुए कई चित्र उस समय के एक विख्यात चित्रकार भेरोचिओ के पास ले गये । बालक लिओनार्दो के चित्रों को देखकर भेरोचिओ मुग्ध हो गया और बोला कि लिओनार्दो के समान शिष्य यदि उसे मिल जाय तो वह अपने को धन्य समझेगा । पिता उसे भेरोचिओ के पास ले गये और उसकी चित्र-शाला में चित्रकला की शिक्षा पाने का प्रबन्ध कर दिया । लिओनार्दो को केवल सुनिपुण शिक्षक ही नहीं मिला बल्कि एक परम हितैषी सुहृद भी । उस समय लिओनार्दो की अवस्था मात्र दस वर्ष की थी । गुरु के सब शिष्यों में ये ही सबसे अधिक मेधावी थे । प्रतिभा एवं प्रेरणा तो जन्मजात रूप में विद्यमान् थी ही, केवल कल्पना को अभिव्यक्त करने के कौशल को सीखना था । थोड़े समय में ही यह कौशल उन्होंने आयत्त कर लिया और चित्रकला में उन्नति करने लगे । शिष्य के साहचर्य मे गुरु ने भी शिल्परीति और कला-कौशल के क्षेत्र में नये ढंग से विचार करना सीखा । एक बार भेरोचियो सेण्ट जान द्वारा ईसामसीह के दीक्षा-दान का चित्र अङ्कित कर रहे थे । उस चित्र में लिओनार्दो ने एक देवदूत का चित्र अङ्कित कर दिया । देवदूत के इस चित्र ने अपने रूप-माधुर्य से प्रधान चित्र की विषयवस्तु को भी परास्त कर दिया । गुरु ने शिष्य के सामने अपनी पराजय सानन्द स्वीकार की और उसी समय यह प्रतिज्ञा की कि अब वह तूलिका ग्रहण नहीं करेंगे ।

चित्रकला की शिक्षा प्राप्त करते हुए अन्य विषयों के प्रति उनका अनुराग कम नहीं हुआ । समय मिलने पर वे मिट्टी से मूर्त्ति तैयार करते, सुन्दर-सुन्दर भवन और अट्टालिकाओं का नक्शा बनाते तथा तरह-तरह के यन्त्रों की उद्भावना करते । यहां तक कि उन्होंने आर्नो नदी को बांध कर उससे एक नहर निकालने की योजना भी अपने मन मे प्रस्तुत की थी और इन सब कामों के बीच कभी-कभी अपने को जन-कोलाहल से दूर रख कर गणित की किसी समस्या के सुलझाने में भी लीन हो जाते । चित्रकला की शिक्षा प्राप्त करके १४७२ ई० में, २०

वर्ष की उम्र में, वे फ्लारेंस की 'चित्रकार-मण्डली' के सदस्य हो गये। उस समय भी वे भेरोचियो के साथ उनके सहायक के रूप में काम कर रहे थे। उनके द्वारा अंकित सबसे पुराना चित्र है "माता की मूर्त्ति की गोद मे एक बच्चा और बिल्ली" (Maddona with child and cat)।

लिओनार्दो को प्रकृति ने अपने दानों से सम्यक् विभूषित किया था। केवल बुद्धि एवं प्रतिभा ही नहीं बल्कि उसके साथ-साथ उनकी देहश्री भी अपूर्व थी। शरीर सुन्दर, सुगठित और सुडौल था। इस प्रकार के शरीर पर मनीषी की एक असामान्य प्रभा मण्डित हो रही थी। बहुत से मनुष्यों के बीच में भी उन्हें सहज ही पहचाना जा सकता था। अपनी मित्र-मण्डली में वे सरस वार्तालाप के लिए अत्यन्त प्रिय थे। अपनी बातों से अपने संगियों को मन्त्रमुग्धवत् कर देते। उनके वार्तालाप अत्यन्त सरस और सजीव होते थे। एक ऐतिहासिक ने उनके रूप-गुण का वर्णन इस प्रकार किया है, "कविता की आवृत्ति करने की मोहकता, संगीत-कुशलता, शारीरिक बल और घोड़े की सवारी के अद्भुत प्रदर्शन में वे अपने समय के समस्त युवकों से बहुत आगे बढे हुए थे। जिस समय वे गुलाबी रंग का चोगा पहन कर अपने सुनहले बालों से युक्त चेहरे को लेकर जनसमूह के बीच खड़े होते थे और एक-एक कर कला और यन्त्रविज्ञान की बड़ी-बड़ी परियोजनाओं की व्याख्या करने लगते थे उस समय श्रोता मन्त्रमुग्ध हो जाते थे।"

उनके व्यक्तिगत जीवन की घटनाओं का बहुत कम विवरण हमे प्राप्त है। उनके द्वारा अंकित चित्र ही उनके जीवन पर प्रकाश डाल सकते हैं। उनके जीवनी-लेखक ने उनके गृहस्थ जीवन का कोई उल्लेख नहीं किया है जिससे इस बात का पता नहीं चलता कि उनके स्त्री-पुत्र थे या नहीं। उनके विशिष्ट मित्र मेलजी के पत्र में एक 'सदाशय मित्र एव स्नेहशील पिता' के रूप में उनका उल्लेख किया गया है। इससे उनके विवाहित होने का सबूत मिलता है। किन्तु अपने अन्तिम जीवन मे उन्होंने जो दानपत्र लिखा था उसमें उनके स्त्री-पुत्र की कोई चर्चा

नहीं की गयी थी। अपनी संपत्ति का एक बहुत बड़ा भाग उन्होंने दान कर दिया था। बाकी भाग अपने भाइयों, प्रिय छात्र सलाइनो और विश्वस्त मित्र मेलजी के नाम बराबर-बराबर हिस्से में छोड़ गये थे।

यद्यपि लिओनार्दो के मित्रों की संख्या काफी थी और मित्रों का उन्हें यथेष्ट प्रेम भी प्राप्त था, किन्तु उनमें कोई भी उनका अन्तरङ्ग मित्र नहीं था। उन्हें स्वयं भी ऐसा लग रहा था कि ऐसा कोई व्यक्ति नहीं जो उनके भाव जगत का साथी बन सके। बीच-बीच में वह एकान्त-सेवी बन जाते थे और इस निर्जनता में उनकी कला-साधना चलती रहती थी। मार्ग चलते हुए जब वह सहसा किसी विलक्षण व्यक्ति के चेहरे को देखते तब उसके पीछे हो लेते और बाद में जब घर लौटते उसकी आकृति को आँकने बैठ जाते। एकान्तप्रिय होने के कारण पशु-पक्षियों से उन्हें प्रेम था। उनके जीवनी-लेखक ने लिखा है कि बाजार से होकर जाते समय जब वे किसी पक्षी को पिंजड़े में बन्द देखते, पैसा देकर उसे खरीद लेते और फिर उसे आकाश में उड़ा देते। पिंजड़े में बन्द पक्षी बाहर निकलने के लिये डैना फटफटा रहा हो यह दृश्य उनके लिये असह्य था।

लिओनार्दो के गुणी होने की ख्याति दूर-दूर तक फैल चुकी थी। मिलान नगर के ड्यूक को मालूम हुआ कि लिओनार्दो अच्छे संगीतज्ञ भी हैं। ड्यूक ने उन्हें अपने यहाँ निमन्त्रित किया। वीणा लेकर वे ड्यूक के दरबार में आये। ड्यूक संगीत-विद्या का प्रेमी था। उनका वीणा-वादन सुन कर वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। १४८५ ई० में मिलान शहर में भयंकर महामारी का प्रकोप हुआ। यह देख कर वीणावादक लिओनार्दो ने नगर निर्माण की एक परियोजना बनाई जिसमें बताया गया था कि नये ढंग से स्वच्छ और सुन्दर रूप में नगर का निर्माण किस तरह किया जा सकता है। एक कुशल इञ्जीनियर की तरह एक आदर्श नगर का नक्शा तैयार करके और उसके साथ विस्तृत विवरण लिख कर ड्यूक के पास भेज दिया। इतना ही नहीं बल्कि पत्र लिखकर

ड्यूक से अनुरोध भी किया कि वह लिओनार्दो के प्रस्तावानुसार नगर का नये ढंग से निर्माण करायें। इससे नगर का सौन्दर्य बढ़ेगा, नगरवासी यशलाभ करेंगे और ड्यूक को नगर से अधिक राजस्व प्राप्त होगा। किन्तु ड्यूक ने उनकी बातों पर ध्यान नहीं दिया।

ड्यूक का ध्यान नगर-निर्माण की ओर बहुत कम था। अन्य राजों-रईसों की तरह वह भी युद्ध, आक्रमण और प्रतिरक्षा के लिये अधिक चिन्तित रहा करते थे। लिओनार्दो ने इस दिशा में भी अपनी अद्भुत प्रतिभा की ओर ड्यूक का ध्यान आकृष्ट करना चाहा। दृढ़ आत्मविश्वास के साथ ड्यूक को पत्र लिखा, "आक्रमण और आत्मरक्षा के बहुत से उपाय मैं निकाल सकता हूँ।" यों सहसा यह विश्वास करना कठिन हो जाता है कि एक कलाकार युद्धविद्या की बारीक बातों से परिचित होगा, किन्तु आधुनिक काल के रणनीति-विशारदों का कहना है कि लिओनार्दो द्वारा परिकल्पित अस्त्र-शस्त्रों के नक्शों को देख कर ऐसा विश्वास होता है मानो इस व्यक्ति ने सारा जीवन इस विषय को लेकर माथापच्ची की हो और तब इस प्रकार के उन्नत अस्त्र-शस्त्रों की उद्भावना की हो। किन्तु उनके इस पत्र का भी ड्यूक पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और न वे इसके लिये उत्साहित हुए। ड्यूक को उन्होंने यह भी सूचित किया था कि वे पत्थर, लोहा तथा अन्य धातुओं से मूर्तियों का निर्माण कर सकते हैं। उन्होंने ड्यूक फ्रान्सिसको फरेन्जी की एक अश्वारोही प्रस्तर मूर्ति का निर्माण किया था। इस मूर्ति को तैयार करने में सोलह वर्ष लगे थे। बाद में चलकर जब फ्रांसीसी सेना ने मिलान पर अधिकार जमाया उसने इस मूर्ति को नष्ट कर डाला।

मिलान के ड्यूक की पृष्ठपोषकता में लिओनार्दो प्रायः १८ वर्ष तक मिलान में रहे। यहीं उन्होंने 'लास्ट सपर' नामक विश्वविख्यात चित्र का निर्माण किया था। सेण्टमेरियाडेल ग्रेजी गिर्जा की दीवार पर उन्होंने ईसा के अन्तिम आहार का यह चित्र अंकित किया था। ईसा

अपने शिष्यों के साथ आहार करने बैठे। उसी समय उनके मुख से यह वाणी निकली—"मैं निश्चित रूप से तुम लोगों को कहता हूँ कि तुम में से ही कोई एक मेरे साथ विश्वासघात करेगा।" उनकी इस उक्ति पर उनके शिष्यों और विश्वासघातक जुडास के चेहरे पर किस प्रकार के भाव फूट पड़े थे यही चित्र में दिखाया गया है। अत्यन्त परिश्रम और गंभीर चिन्तन के साथ उन्होंने इस चित्र का निर्माण किया था। एक प्रत्यक्षदर्शी का कथन है कि किसी-किसी दिन भोर से लेकर संध्या तक वे लगातार चित्राङ्कन करते रहते, और कभी कई दिनों तक उसके सामने ध्यानस्थ होकर खड़े रहते।

लिओनार्दो के इस 'अन्तिम आहार' चित्र की गणना विश्व के श्रेष्ठतम चित्रों में की जाती है। यूरोप के 'नवजागरण युग की यह प्रथम सर्वोत्कृष्ट कृति' और 'सभी युगों की चित्रकला के इतिहास में अत्यन्त निपुण रचना' माना जाता है। इस चित्र का प्रभाव तत्कालीन यूरोपीय रसविदग्ध समाज में सर्वत्र व्याप्त हो गया था। जब लुई बारहवें ने अपनी विजयी सेना के साथ मिलान नगर में प्रवेश किया उस समय तक 'दि लास्ट सपर' चित्र पूर्ण हो चुका था। उस चित्र को देखकर वह चकित हो गया। उसे ध्यानमग्न भाव से देखते हुए उसने वहाँ के लोगों से पूछा कि जिस दीवार पर उक्त चित्र अङ्कित है उसे काट कर अलग निकाल लेना क्या संभव नहीं है? उसकी इच्छा उस चित्र को अपने साथ फ्रान्स ले जाने की थी।

मिलान के प्रवासकाल में लिओनार्दो ने और भी कई चित्र अंकित किये जिनमें 'भर्जिन आफ दि राक्स' भी सम्मिलित है। मिलान में उन्होंने एक 'संस्कृति-संसद' की स्थापना की थी। इसमें भाषण देने के लिए उन्होंने जो प्रारूप तैयार किये थे उनसे पता चलता है कि संसद का उद्देश्य था शिल्पकला और उससे सम्बन्धित विज्ञान की आलोचना करना। लियोनार्दो के लेखों की पाण्डुलिपियों में कई विषयों पर निबंध पाये जाते हैं— 'चित्रकला पर निबंध', 'प्रकाश और छाया पर निबंध',

'स्थानीय गति पर निबंध'। उन्होंने अस्थि-विज्ञान (एनैटॉमी) की शिक्षा इस विद्या के एक पण्डित से प्राप्त की थी। १५०० ई० से लेकर १५०६ तक वे मुख्यतः फ्लारेन्स में रहे। इस अवधि की उनकी महत्त्व-पूर्ण कृतियाँ हैं— सेण्ट अन्न का व्यङ्ग्यचित्र और मैडोना चित्र। यहाँ उनकी ज्ञानपिपासा भूगोलविद्या की ओर प्रवृत्त हुई। समुद्र के ज्वार-भाटा विषय को लेकर वे गवेषणा करने लगे। इसके साथ ही अर्नो नदी से नहर निकालने और जनपद अभियंत्रणा (सिविल इंजीनियरिंग) के सम्बन्ध में भी कई परियोजनाएँ प्रकाशित हुईं। इस समय उनके अध्ययन के विषयों में एक विषय रेखागणित भी था।

सन् १५०७ ई० में फ्रान्स के राजा बारहवें लुई ने उन्हें दरबार का चित्रशिल्पी नियुक्त किया। १५१३ में वे रोम आये और धर्माचार्य पोप के साथ साक्षात्कार किया। पोप ने उनका अच्छा स्वागत किया और कुछ काम भी दिये। किन्तु उनके इस समय के बनाये हुए चित्रों में 'मैडोना' और 'एक बालक' के एक चित्र के सिवा अन्य चित्र उपलब्ध नहीं हैं। सन् १५१६ में लिओनार्दो अपने शिष्य मेलजी के साथ इटली से विदा होकर फ्रान्स चले आये और फिर स्वदेश नहीं लौटे।

फ्रान्स में उनके दिन आराम से कटने लगे। फ्रान्स का राजा उनका गुणग्राही था। इस समय लिओनार्दो की अवस्था लगभग ६४ वर्ष की हो चुकी थी किन्तु देखने में वे अवस्था से अधिक वृद्ध जान पड़ते थे। राजा बहुधा उनके वासस्थान पर उनसे मिलने और वार्त्तालाप का आनन्द उठाने जाता था। लियोनार्दो अब विशेष रूप से वैज्ञानिक अध्ययन में निरत रहने लगे। कुछ अधूरे चित्रों को इस समय उन्होंने पूरा किया। लकवे से उनका दाहिना हाथ पंगु हो गया था इसलिए किसी नये चित्र में हाथ नहीं लगाया। उन्हें ऐसा लगने लगा कि उनके जीवन का अंत अब सन्निकट है। १५१९ ई० में उन्होंने एक वसीयतनामा लिख कर अपनी संपत्ति का उत्तराधिकारी अपने भाई और

अपने प्रिय शिष्य मेलजी को बनाया। उसी साल मई महीने में उनकी मृत्यु हो गयी।

लिओनार्दो की बहुमुखी प्रतिभा इतनी विशाल थी कि उसका ठीक-ठीक अनुमान करना असंभव है। चित्रकला की उनकी जो सर्वोत्कृष्ट कृतियाँ हैं केवल उनसे ही उनकी विद्याबुद्धि का यथार्थ परिचय नहीं मिल सकता। इसके लिए विभिन्न विषयों पर लिखे गये उनके लेखों की पाण्डुलिपियों का गंभीर अध्ययन आवश्यक है। कला एव विज्ञान के रहस्यों का उद्घाटन करने में उनकी बुद्धि ने अद्भुत चमत्कार दिखलाया था। उनका मस्तिष्क विलक्षण शक्तिसंपन्न था। रेखागणित में पारङ्गत होने के साथ-साथ गृह-निर्माण विद्या में वे कुशल थे। मिल और छापाखाने के मॉडल उन्होंने तैयार किये थे और जलशक्ति द्वारा संचालित यंत्रों की उद्भावना की थी। पहाड़ों से सुरंग निकालने और भारी बोझ उठाने के लिए क्रेन यंत्र की भी प्ररचना उन्होंने की थी। उनके बनाये हुए इस प्रकार के बहुत से नकशे आज भी संग्रहशालाओं में सुरक्षित हैं।

पक्षियों को आकाश में उड़ते हुए देखकर उन्होंने यह धारणा अपने मन में कर ली थी कि मनुष्य भी आकाश में उड़ सकता है। इस दिशा में उन्होंने बहुत-कुछ कार्य भी किया था। वायुयान की एक प्ररचना तैयार की थी। यदि आज की तरह पेट्रोल इंजन जैसा साधन उनके पास होता तो वह वायुयान उड़ सकता था। बाष्पयान, वाष्प द्वारा चालित तोप और जहाज की परिकल्पना भी उन्होंने की थी। आम्भस विज्ञान के वे आरम्भकर्ता थे। फ्रान्स के राजा के मनोरंजन के लिए उन्होंने एक यांत्रिक सिंह का निर्माण किया जो कई कदम आगे बढ़ कर अपनी छाती खोल कर दिखाता था। उसमें फूल के गुच्छे दिखायी पड़ते थे।

इस प्रकार एक चित्रकार, भास्कर, स्थपित, अभियंता और संगीतज्ञ के रूप में अपने सम सामयिकों की दृष्टि में वे एक विस्मय

थे। प्राधुनिक विद्वानों ने लिम्रोनार्दो को एक महान् पण्डित के रूप में विघोषित किया है। ज्ञान और विज्ञान का कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं जिसमें उनकी बुद्धि ने प्रवेश नहीं किया हो। बेकन, डार्विन और कोपरनिकस के सिद्धान्त उन्हें पहले से ज्ञात थे। नैतिक गुणों का भी उनमें सम्यक् रूप में समावेश पाया जाता था। बड़े उच्चाशय एवं उदारमना व्यक्ति थे। थोड़े शब्दों में यदि कहें तो यों कह सकते हैं कि वे पूर्ण मनुष्य थे। मनुष्यत्व का परिपूर्ण विकास उनमें हुआ था।

६

वालटेयर

वालटेयर के संबंध में विक्टर ह्यूगो ने लिखा है—'वालटेयर का नाम लेने से ही संपूर्ण अठारहवीं शताब्दी अपने विशिष्ट गुणों के साथ हमारे सामने प्रत्यक्ष हो उठती है।' एक दूसरे लेखक ने लिखा है—'यदि हम मनुष्य का विचार इस बात से करें कि उसने अपने जीवन में क्या किया तो वालटेयर निस्संदेह आधुनिक यूरोप के सर्वश्रेष्ठ लेखक हैं। विधाता ने उन्हें ८४ वर्ष की आयु इसलिए दी थी ताकि वे क्षयग्रस्त युग को क्रमशः गलित अवस्था में परिणत कर दें। समय के साथ संग्राम करने के लिए उनके पास समय था, और इस संग्राम में वे एक विजयी वीर के रूप में मृत्यु को प्राप्त हुए।' फरांसीसी राज्य-क्रांति के पूर्व व्यक्ति-स्वाधीनता के लिए उन्होंने जो आजीवन संग्राम चलाया था उसके संबंध में उनके जीवनी-लेखक ने एक पंक्ति में सब-कुछ लिख दिया है। लेखक ने लिखा है—वालटेयर कहा करते थे, 'तुम जितनी बातें कह रहे हो उनमें प्रत्येक के साथ मेरा मतभेद है; किन्तु यह सब कहने का जो तुम्हारा न्याय अधिकार है, उस अधिकार की रक्षा के लिए मैं आप्राण चेष्टा करूँगा।' वालटेयर का युग अंधविश्वास और

धर्मांधता का युग था। उस युग के वे सर्वप्रथम प्रगतिशील चितक और लेखक थे। अपने युग के साहित्यिक विद्रोहियों में उनका स्थान अग्रगण्य है। मन की अलसता और आदर्शों की जड़ता के विरुद्ध उन्होंने लेखनी धारण की। व्यंग्य-विरूप के रूप मे उनकी लेखनी ने धार्मिक अधविश्वासों के विरुद्ध अग्नि उद्‌गीरण किया। नीत्से ने उनके व्यंग्य की उपमा हँसते हुए सिह से दी है। सिंह का हँसना कितना सांघातिक होता है। वालटेयर हँसते हुए सिंह की तरह आए और अपनी हँसी से सर्वनाश कर डाला। वालटेयर और रूसो—अठारहवीं शताब्दी के यूरोप की ये दो ऐसी साहित्यिक शक्तियां थीं जिन्होंने राजनीतिक एव आर्थिक क्षेत्रों में क्राति का मार्ग प्रशस्त किया—सामंतों के शासन के चिताभस्म पर मध्यमवर्ग के शासन का सूत्रपात किया। वालटेयर ईश्वर-विरोधी या धर्मविद्रोही नहीं थे। वे जिस धर्म में विश्वास करते थे वह धर्म था युक्तिवाद। अर्थात्, किसी भी धार्मिक सिद्धान्त को वे तब तक ग्रहण करने के लिए तैयार नहीं होते थे जब तक वह तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरे। सरल धर्म-विश्वास के विरुद्ध उन्होंने कभी कुछ नहीं कहा। उनका प्रचड विरोध था उस युग की धर्माधता और धार्मिक अनाचार के प्रति। वे फरांसीसी जाति के प्राणों को सब प्रकार के अंधविश्वासों एवं कुसंस्कारो से मुक्त करना चाहते थे। मिथ्या धर्म और पाखड के विरोध में उन्होंने तीक्ष्ण व्यंग्य-बाण का प्रयोग किया। इसलिए उन्हें धर्माचार्यों और धर्मपुरोहितों का कोपभाजन बनना पड़ा। उनकी दृष्टि मे वालटेयर धर्महीन और धर्मद्वेषी थे।

वालटेयर का जन्म सन् १६९४ ई० में पेरिस में हुआ था। जन्म के साथ-साथ माता की मृत्यु हो गई। एक रुग्ण शिशु के रूप में जन्म ग्रहण करने के कारण उनके बचने की कोई आशा नहीं थी। इसलिए शीघ्र ही उन्हें ईसाई धर्म में दीक्षित किया गया। किंतु स्वास्थ्यहीन होने पर भी उनमें ज्ञानार्जन की अदम्य स्पृहा थी। १७ वर्ष की अवस्था में वालटेयर ने साहित्य को पेशा के रूप में ग्रहण करने

की इच्छा प्रकट की। पिता की इच्छा थी कि वे वकील बनें। इसलिए उन्होंने पुत्र को कानून की शिक्षा प्राप्त करने के लिए बाध्य किया। कानून की शिक्षा समाप्त करके भी वालटेयर वकील नहीं बन सके। फ्रांस के कूटनीतिक विभाग में उन्हें एक नौकरी मिल गई और इस नौकरी के सिलसिले में उन्हें हालेंड जाना पड़ा। वहाँ एक डच बालिका के प्रेम में वे पड़ गए और उसको साथ लेकर पेरिस भाग आने का विचार करने लगे। किन्तु अधिकारियों को इसकी खबर लग गई और उन्हें पेरिस भेज दिया गया। अब उन्होंने जम कर साहित्य का पेशा ग्रहण किया। उनके पिता ने धमकी दी कि लेखक बनने पर भूखों मरना होगा और पिता की दृष्टि में वे त्याज्य पुत्र समझे जायेंगे। किन्तु वालटेयर अपने दृढ़ संकल्प से विचलित नहीं हुए। अथक भाव से उनकी साहित्य-साधना चलने लगी। जब तक वे जीवित रहे, एक दिन के लिए भी लेखनी रूपी अस्त्र का परित्याग नहीं किया। लगभग एक सौ पुस्तकें लिख डालीं जिनमें कविता, नाटक, उपन्यास, इतिहास आदि सब कुछ हैं। उनका गद्य फ्रेंच साहित्य का गौरव है। उनके लेखों में एक ओर जहाँ ज्वालामुखी का लावाप्रवाह है वहाँ दूसरी ओर ज्ञान का उज्ज्वल-स्निग्ध प्रकाश भी है। विलडुरेंट ने उनके सम्बंध में लिखा है—'वालटेयर इतिहास की सबसे बड़ी बौद्धिक शक्ति हैं।'

जिस समय १४वें लुई की मृत्यु हुई, वालटेयर की अवस्था २१ वर्ष की थी। राजा की मृत्यु के बाद राजप्रतिनिधि ने आर्थिक कारणों से घोड़साल के आधे घोड़ों को बेच डाला। इस पर वालटेयर ने लिखा, घोड़साल के घोड़ों को न बेचकर यदि उन गधों को जो राजसभा में भरे हुए हैं, उनमें आधे को विदा कर दिया जाता तो यह अधिक बुद्धिमानी का काम होता। वालटेयर के व्यंग्य कितने तीखे होते थे—इसका यह एक ज्वलंत उदाहरण है। राजा के नाम से एक व्यंग्य-नाटक लिखने के अभियोग में उन्हें जेल की सजा हुई। जेल से छूटने पर उन्होंने कविता की दो पुस्तकें लिखीं। इन सब कृतियों के कारण उनकी

साहित्यिक ख्याति चारों ओर फैल गई। प्रकाशित होने के साथ-साथ वालटेयर की प्रत्येक पुस्तक जब्त कर ली जाती थी। इससे उनकी पुस्तकों को पढ़ने की उत्कंठा लोगों में और भी बढ़ जाती थी। लोग छिपकर उनकी पुस्तकें पढ़ने की चेष्टा करते थे। उनके लिखे नाटक दो रात्रि से अधिक अभिनीत नहीं हो पाते थे। कारण, राजाज्ञा से अभिनय बंद कर दिया जाता था। किन्तु दो रातों के अभिनय में ही दर्शक टूट पड़ते थे। उनके नाटकों के कितने ही वाक्य दर्शकों को कंठस्थ हो जाते थे। फ्रांस से बाहर वालटेयर के विरुद्ध यह भी अभियोग लगाया कि वह युवकों को नीतिभ्रष्ट करते हैं। उन दिनों फ्रांस में राजा के शासन की समालोचना करना अथवा अधिकारियों की योग्यता एवं बुद्धिमत्ता में सन्देह प्रकट करना भी नीतिहीनता मानी जाती थी।

वालटेयर का असली नाम फ्रांकई-मारी आरुई था। जिस समय वे कारागार में थे उसी समय उन्होंने अपना उपनाम वालटेयर रखा था और इसी छद्मनाम से कविता लिखा करते थे। कारागार में ग्यारह महीने की सजा काटने के पूर्व ही उन्होंने एक महाकाव्य की रचना कर डाली थी। जेल से छूटते ही वालटेयर रंगमंच पर अवतीर्ण हुए और एक वियोगांत नाटक की रचना की। यह नाटक पेरिस में लगातार ४५ रात्रि तक अभिनीत हुआ और इसे अभूतपूर्व सफलता मिली। वालटेयर के वृद्ध पिता अपने पुत्र की कीर्त्ति सुनकर अभिनय देखने के लिए आए थे। अपने जिस पुत्र को उन्होंने आवारा समझ रखा था उसकी असामान्य प्रतिभा का परिचय पाकर वे फूले नहीं समाए।

नाटक लिखकर वालटेयर ने काफी पैसा कमाया। धन का उन्होंने दुरुपयोग नहीं किया। जीवन में धन का जो महत्त्व है उसे वे अच्छी तरह समझते थे। धनवान होने के साथ-साथ उनकी उदारता बढ़ती गई। उनके आश्रय में रहकर उनके कितने ही बंधु-बांधव उनसे सहायता पाने लगे। काव्य और नाटक के प्रकाशन से वालटेयर की प्रसिद्धि तत्कालीन अभिजात वर्ग में फैल गई थी। अभिजात वर्ग ने

उनका अपने बीच स्वागत किया और सब प्रकार से उन्हें बढ़ावा दिया। किन्तु उस वर्ग में कुछ लोग ऐसे भी थे जो वालटेयर की प्रतिष्ठा एवं प्रतिपत्ति से जलते थे। वे इस बात को नहीं भूल सकते थे कि वालटेयर में प्रतिभा के सिवा और कोई ऐसा कौलिक गुण या मर्यादा नहीं जिससे उन्हें अभिजात वर्ग में स्थान मिले। एक दिन एक उद्यान-भोज के बाद वालटेयर ने एक चमत्कारपूर्ण भाषण किया। इस पर अभिजात वर्ग के एक व्यक्ति ने वहाँ की उपस्थित जनमंडली को सुनाकर कहा—'इस तरह जोर से व्याख्यान देने वाला यह नौजवान कौन है? वालटेयर ने फौरन जवाब दिया—'हुजूर, इस नौजवान के नाम के साथ कौलिक मर्यादा की पूंछ नहीं लगी हुई है, मगर वह अपने नाम से ही सब लोगों में संमानित है।' यह उत्तर सुनकर प्रश्नकर्त्ता महोदय जल-भुन गए और वालटेयर से इसका बदला लेने की ठानी। उन्होंने वालटेयर के पीछे गुंडों को लगा दिया उन्हें रात्रि मे पीटने के लिए। साथ ही गुंडों को सावधान भी कर दिया—'सिर पर आघात नहीं करना; उसके मस्तिष्क से अच्छी बातें निकल सकती हैं।' गुडों के प्रहार से घायल होकर लँगड़ाते हुए वालटेयर उस भद्र व्यक्ति के समक्ष उपस्थित हुए और उसे द्वन्द्व युद्ध के लिये चुनौती दी। इसके बाद वह घर चले गए और सारा दिन पिस्तौल चलाने का अभ्यास करते रहे। उधर उस व्यक्ति ने द्वन्द्व युद्ध के भय से चुपके से अपने एक सम्बन्धी को जो उच्चपदस्थ राजकर्मचारी था, सूचना दे दी। वालटेयर गिरफ्तार कर लिये गये और एक बार फिर जेल में डाल दिये गये। जेल से शीघ्र ही उन्हें रिहाई मिल गई इस शर्त पर कि वे स्वदेश छोड़कर इंग्लेंड चले जायँ। वालटेयर इंग्लैंड चले गये और वहाँ तीन वर्ष तक रहे। प्रवासकाल में उन्होंने अंग्रेजी भाषा का अच्छा अभ्यास किया। न्यूटन, शेक्सपीयर और लॉक की रचनाओं का मनोयोग पूर्वक अध्ययन किया। थोड़े समय के अन्दर ही उन्होंने अंगरेजी साहित्य दर्शन और विज्ञान का मंथन करके उसके सारतत्त्व को ग्रहण

कर लिया। अपने अनुभवों को उन्होंने 'लेटर्स आन द इंग्लिश' में लिपिबद्ध किया। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ मित्रमण्डली में वितरित की गईं। छपाने का साहस इसलिये नहीं हुआ कि उसमें इंग्लैण्ड की प्रशंसा की गई थी और फ्रांस के अभिजात वर्ग और पुरोहित-सम्प्रदाय के अत्याचारों पर निर्मम आघात किया गया था। इंग्लैण्ड में जिस समय वे थे, प्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन की मृत्यु हुई थी। उसकी अर्थी का जो शानदार जलूस निकला था उसे देख कर उन्हें आनन्द-मिश्रित विस्मय इसलिये हुआ कि एक वैज्ञानिक को राजकीय सम्मान प्राप्त हुआ था। अंग्रेज जाति की पार्लामेंटरी शासनपद्धति और न्यायनीतिज्ञान देख कर वालटेयर विशेष प्रभावित हुए थे। १७२९ ई० में वालटेयर को स्वदेश लौटने की अनुमति मिली। पेरिस लौटने पर फिर भोग-विलास का उद्दाम जीवन आरम्भ हुआ। आनन्द-रभस में दिन कटने लगे। देखते-देखते पाँच वर्ष व्यतीत हो गये। इसके बाद एक ऐसी घटना हो गई जिससे उन्हें पेरिस छोड़ना पड़ा। एक दुष्ट पुस्तक-प्रकाशक ने 'लेटर्स आन द इंग्लिश' की हस्तलिखित प्रति बिना उनकी अनुमति लिये छाप दी। पुस्तक के छपते ही फ्रांस के अभिजात वर्ग में तहलका मच गया। पेरिस की पार्लमेंट ने आदेश दिया—'खुली जगह में वालटेयर की पुस्तक जला डाली जाय। वालटेयर पहले ही ताड़ गये कि उन्हें फिर जेल की हवा खानी पड़ेगी। इसलिये चुपचाप भाग निकलने में ही बुद्धिमानी है। किन्तु भागने के साथ-साथ उन्होंने एक नया कांड कर डाला।

वालटेयर की अवस्था इस समय २४ वर्ष की थी। एक २८ वर्षीया विदुषी महिला से उनका प्रेम हो गया। वह विवाहिता थी। वालटेयर उसको साथ लेकर पेरिस से निकल पड़े। वालटेयर की प्रेयसी गणित विद्या में निष्णात थी। फ्रेंच एकेडमी से उसे भौतिक विज्ञान-विषयक एक निबन्ध पर पुरस्कार मिलने वाला था। इस महिला की दृष्टि में वालटेयर 'फ्रांस का सर्वोत्तम विभूषण' था। वालटेयर अपनी

प्रेयसी के प्रेम का प्रतिदान यह कह कर दिया करता था कि 'वह एक महापुरुष है जिसका एकमात्र अपराध यह है कि वह नारी होकर जन्मी है।' दोनों ने एक साथ रहते हुए अपने मधुमय जीवन के पन्द्रह वर्ष आनन्द से व्यतीत कर दिये। इसके बाद प्रेम की रंगीनी में शिथिलता आने लगी। महिला एक सुन्दर तरुण के प्रति प्रेमासक्त हुई। वालटेयर को जब इसका पता चला, वह क्रुद्ध हो उठे। किन्तु अपने जीवन के उतार में वह पहुँच चुके थे। प्रेमिक युवक के क्षमा माँगने पर वह शात हो गये और रमणी को उक्त युवक के साथ जाने दिया। एक दार्शनिक की तरह इस घटना को उन्होंने सहन किया। 'मैंने एक परिणीता स्त्री को अपनी प्रेमिका बनाया। अब एक अन्य व्यक्ति ने उसके ऊपर अपना अधिकार जमाया है। संसार में यही व्यवस्था होती है। एक कील दूसरी कील को निकाल-बाहर कर देती है; यही दुनिया का रवैया है।' सन् १७४६ में जब प्रसव-वेदना से उक्त महिला की मृत्यु हुई, उस समय उसकी मृत्यु-शय्या के समीप उसका प्रथम पति, वालटेयर और प्रेमिक युवक—तीनों उपस्थित थे। तीनों में से किसी ने एक शब्द भी निन्दा का उच्चारण नहीं किया।

इसके बाद वालटेयर को जर्मन सम्राट् फ्रेडरिक का निमन्त्रण मिला। निमन्त्रण के साथ तीन हजार फ्रैंक मुद्रा यात्रा-व्यय के रूप मे भेजी गई थीं। १७५० में वालटेयर ने बर्लिन के लिये प्रस्थान किया। फ्रेडरिक के राजप्रासाद में वह आनन्दपूर्वक रहने लगे। राजा उनके गुणों पर मुग्ध था। अपने एक पत्र में वालटेयर ने राजप्रासाद के इस जीवन की तुलना स्वर्गसुख से की है। इसके बाद एक ऐसी घटना हो गई जिससे वालटेयर को फ्रेडरिक का कोपभाजन बनना पड़ा। उन्होंने एक व्यंग्य की रचना की थी। फ्रेडरिक को जब अपनी रचना उन्होंने पढ़ सुनाई, वह बहुत प्रसन्न हुआ और रात भर हँसता रहा। राजा ने वालटेयर से अनुरोध किया कि उसे प्रकाशित न किया जाय। किन्तु तब तक वह प्रेस में भेजी जा चुकी थी। उसे छपा हुआ देखकर राजा

आग-बबूला हो उठा। राजा के क्रोधानल से बचने के लिये वालटेयर वहाँ से भाग निकले।

जर्मनी का सिमाना पार करके वह फ्रांस जाना ही चाहते थे जब कि उन्हें संवाद मिला कि वे अपने देश से निर्वासित हैं। अतः उन्हे कुछ समय तक इधर-उधर भटकना पड़ा और अन्त में स्वीटजरलैंड मे एक पुरानी जमींदारी खरीद कर वहीं बस गये। वालटेयर जहाँ रह रहे थे उसके पास ही, एक शहर में, ईसाई धर्म-पुरोहितों ने अत्यन्त निष्ठुर भाव से एक सोलह वर्ष के लड़के की हत्या कर डाली थी। उसके विरुद्ध अभियोग यही था कि उसने ईसा की एक मूर्त्ति को भंग कर डाला था। इसके लिए उसे बहुत पीटा गया और उसने अपराध स्वीकार कर लिया। तब धर्मांध पादरियों ने उसका मस्तक धड़ से अलग कर दिया और उसके मुंडहीन शरीर को अग्नि में डाल दिया। उस अग्निज्वाला को घेर कर उन्मत्त जनता नृत्य करने लगी। उस लड़के के पास वाल-टेयर की एक पुस्तक पाई गई थी। यह पुस्तक भी आग में झोंक दी गई।

इस क्रूर हत्या का हाल जब वालटेयर को मालूम हुआ, वे बडे क्षुब्ध हुए। इसके बाद उन्होने पुरोहितों के अत्याचार एवं धर्मांधता के विरुद्ध अपनी लेखनी द्वारा अजस्र व्यंग्य-बाण वर्षण शुरू किया। क्रमशः पुरोहितों के विरुद्ध जनमत संगठित होने लगा। पुरोहित वर्ग तिलमिला उठा। वालटेयर को धन का प्रलोभन दिया गया। किन्तु संग्राम आरंभ हो चुका था। इसलिये अब उससे विरत होने की कोई बात ही नही थी। वालटेयर की लेखनी से अग्नि-स्फुलिंगों का विस्फोट होने लगा। एक-एक पुस्तक की लाखों प्रतियाँ बिकने लगीं। धर्मध्वजियों के दुर्ग पर आघात करने के लिये वालटेयर ने लगातार साहित्य के रूप में एक-एक बमगोला छोड़ना शुरू किया। इस अभियान के समक्ष उनका शासन ढलमल करने लगा। राजसिंहासन भी कम्पित हो उठे। इस प्रकार एक ओर वालटेयर और दूसरी ओर रूसो की अग्निगर्भ वाणी ने फ्रांस

की राज्य-क्रांति के लिए तत्कालीन जनता के चितराज्य में भाव के बीज बोए। साम्य और स्वाधीनता के अग्रदूत बनकर उन्होंने क्रांति का मार्ग प्रशस्त किया।

वालटेयर के जीवनी-लेखक ने लिखा है कि वह झगड़ालू प्रकृति का था; साथ ही अहंकारी भी। और भी अनेक मानवीय दुर्बलताएँ उसमें थीं। किन्तु यह सब होने पर भी वह व्यक्ति स्वतन्त्रता का प्रबल समर्थक था। किसी मनुष्य के ऊपर अन्य मनुष्य अत्याचार करे—यह उसके लिये असह्य था। उस युग में 'राजा करे सो न्याय' यही कहावत फ्रांस के लिये चरितार्थ हो रही थी। राजा के दोर्दंड-प्रताप के सामने साधारण जनों की मान-मर्यादा का कोई मूल्य नहीं था। राजा लुई चौदहवाँ इतना बड़ा दंभी और अहंकारी था कि वह अपने को ही राज्य समझता था। प्रजा के लिये कर्त्ता, धर्त्ता, विधाता सब-कुछ। लुई पन्द्रहवाँ का दावा था—'राजा एक मात्र ईश्वर को छोड़कर और किसी के सामने अपने को उत्तरदायी नहीं समझता।' और उसके पौत्र सोलहवें लुई का कहना था—'मेरी इच्छा ही कानून है।' ऐसे युग मे वालटेयर ने साहित्य के द्वारा मनुष्य की स्वाधीनता एवं मनुष्यत्व की मर्यादा का जयगान करना आरम्भ किया। उनका कहना था,—मैं जिस रूप में स्वाधीन विचार करता हूँ उसी रूप में अपने विचारों को लिपि-बद्ध करता हूँ। उनके जीवन की वाणी थी—अन्याय का ध्वंस करो। वालटेयर अपने को ईसाई धर्म का विरोधी नहीं मानते थे। वे धर्म के नाम पर होने वाले अत्याचार एवं अनाचार के विरुद्ध खड्गहस्त थे। सत्तर वर्ष की अवस्था में उन्होंने लिखा था—'ईसाई धर्म अवश्य ही ईश्वरीय धर्म है, कारण यह १७०० वर्षों से जीवित है जबकि इसके अन्दर बहुत-सी नीच और वाहियात बातें भरी हुई हैं।' उस समय राजनीति और कानून के क्षेत्र में भी धर्म-पुरोहितों की प्रधानता थी। राजनीति के साथ धर्मांधता मिली हुई थी। राजा के ऊपर धर्माचार्यों का प्रभुत्व था। वालटेयर ने दृप्तकण्ठ से घोषणा की—'धर्म को राज-

नीति और कानून के क्षेत्र से पृथक् करो।' इसके लिये ही उन्होंने चर्च के विरुद्ध जनमत संगठन किया था। उस समय यह एक असाध्य साधन समझा जाता था।

वालटेयर कठोर परिश्रमी था। आजीवन वह अक्लांत भाव से कर्म करता रहा। यही कारण है कि अपने युग में उसने अकेले जितना कर दिखाया उतना अन्य किसी ने नहीं। उसका कथन था—'किसी काम मे नहीं लगे रहना और जीवित नहीं रहना एक ही बात है।' 'आलसी के सिवा और सब लोग अच्छे हैं।' वालटेयर के सेक्रेटरी ने लिखा है कि वह केवल अपने समय का कृपण था। संसार में जीवन के भार को वहन करने के लिये यह आवश्यक है कि निरन्तर अपने को कर्मव्यस्त रखा जाय।......ज्यों-ज्यों मेरी अवस्था बढ़ती जाती है त्यों-त्यों काम करना मैं अपने लिये आवश्यक समझता हूँ। अन्त में यह जीवन का चरम आनन्द बन जाता है। यदि तुम आत्महत्या नहीं करना चाहते हो तो हमेशा कुछ करते रहो।' इस प्रकार का कर्मोपासक होने के कारण ही वालटेयर ने अपने युग को सम्पूर्ण रूप से कर्ममय बना दिया।

८३ वर्ष की अवस्था में मृत्यु से पूर्व वालटेयर के मन में पेरिस देखने की प्रबल इच्छा हुई। डाक्टरों ने सलाह दी कि यह यात्रा उनके लिये घातक सिद्ध हो सकती है। किन्तु डाक्टरों की सलाह न मानकर वे पेरिस के लिये चल पड़े। फ्रांसीसी सिमाना पर चुंगी-विभाग के एक कर्मचारी ने उनकी गाड़ी को रोका। कर्मचारी यह देखना चाहता था कि उस गाड़ी पर कोई चीज गैरकानूनी ढंग से तो नहीं ले जाई जा रही है। इसके बदले उसने एक अतिवृद्ध पुरुष को उस पर बैठे हुए देखा। कर्मचारी के प्रश्न के उत्तर में वालटेयर ने कहा—'गाड़ी में एकमात्र मुझे छोड़कर और कोई गैरकानूनी चीज़ नहीं है।' कर्मचारी ने उन्हें पहचाना। दीर्घ यात्रा समाप्त करके अन्त में जब उनकी गाड़ी पेरिस पहुँची उस समय तक उनकी दशा अर्धमृतवत् हो चुकी थी।

अपने एक मित्र के पास पहुँच कर वे बोले—'मृत्यु को पीछे छोड़ कर तुमसे मिलने आया हूँ।' दूसरे दिन सारा पेरिस उनकी अभ्यर्थना के लिये वहाँ एकत्र हुआ। एक राजा जैसा उनका स्वागत हुआ। यह सब देखकर लुई सोलहवाँ ईर्ष्या से जल उठा। इतने दिनों के बाद वालटेयर के देशवासियों ने उनका यथोचित सम्मान किया। मृत्यु के पूर्व उन्होंने अपना एक वक्तव्य अपने सेक्रेटरी के हाथ में दिया। उसमें लिखा हुआ था—'मैं ईश्वर की उपासना करते हुए, अपने मित्रों से प्रेम करते हुए, शत्रुओं के प्रति किसी प्रकार का घृणाभाव मन में नहीं धारण करते हुए और अन्धविश्वास को घृणित समझते हुए मृत्यु का आलिंगन करता हूँ।'

सन् १७७८ ई० की ३० मई को जब उनकी मृत्यु हुई, पेरिस के धर्म पुरोहितों ने ईसाई धर्म के अनुसार उनकी अंत्येष्टि-क्रिया करना स्वीकार नहीं किया। इसलिये उनके शव को नगर के बाहर एक ग्राम में दफनाया गया। इसके बाद १७९१ ई० में जब फ्राँस के विजयी विद्रोही दल ने राजा लुई की हत्या की उस समय वालटेयर के मृत शरीर को कब्र से निकाल कर बाहर लाया गया। एक विराट् जलूस के साथ उसे पुनः पेरिस में समाधिस्थ किया गया। जलूस में एक लाख स्त्री-पुरुष सम्मिलित थे और ६ लाख स्त्री-पुरुष राजमार्ग के दोनों ओर खड़े होकर यह दृश्य देख रहे थे। शव को वहन करने वाली गाड़ी पर बड़े-बड़े अक्षरों में लिखा हुआ था—'मनुष्य के मन को वालटेयर से बड़ा बल मिला, इन्होंने स्वतन्त्रता के लिए हमें प्रस्तुत किया।' उनकी समाधि-शिला पर केवल तीन शब्द थे—

Here lies Voltaire.

७

रूसो

एक फ्रांसीसी लेखक ने महान् जीवन की परिभाषा करते हुए लिखा है—"The dream of youth realised in mature age." अर्थात् यौवन का स्वप्न जो परिणत वयस में चरितार्थ होता है। रूसो इसी प्रकार के स्वप्नद्रष्टा थे। अपने जीवन में एक शृङ्खलित गति को मुक्त करने का जो स्वप्न उन्होंने देखा था वह स्वप्न यद्यपि उनके जीवन काल में चरितार्थ नहीं हुआ, किन्तु बाद में चल कर उसने एक ऐसे विप्लव को जन्म दिया जिसका प्रभाव मानव जाति के लिए युगान्तरकारी सिद्ध हुआ। संसार में कुछ ऐसे असाधारण व्यक्ति उत्पन्न होते हैं जो अपने विचारों द्वारा मानव मन में विप्लव का बीज वपन कर जाते हैं जो आगे चलकर एक विशाल महीसर का रूप धारण कर लेता है। साधारण व्यक्तियों के साथ ऐसे लोगों के जीवन की तुलना किसी भी रूप में नहीं हो सकती। जन्म से मृत्यु पर्यन्त उनका जीवन कठोर संघर्षों के बीच रोमाञ्च और वैचित्र्य से परिपूर्ण रहता है। फ्रांसीसी विप्लव के अग्रदूत रूसो इसी प्रकार के असाधारण व्यक्ति थे। अपने अग्निगर्भ विचारों द्वारा उन्होंने जिस युगान्तरकारी विप्लव की सृष्टि की वह शताब्दियों तक मनुष्य की विचारधारा को आलोड़ित करता रहा। अपनी रचनाओं द्वारा उन्होंने दीन दलित जनों का पक्ष ग्रहण

किया, उनकी दाससुलभ मनोवृत्ति के मूल में कुठाराघात किया और इस बात पर जोर दिया कि राज्य के अन्दर रहने वाला प्रत्येक नागरिक समान रूप में स्वतन्त्र है। केवल सामाजिक वैषम्य के क्षेत्र में ही नहीं शिक्षा के क्षेत्र में भी उन्होंने शक्तिशाली मौलिक विचारों को जन्म दिया जिनके फलस्वरूप शिक्षा प्रणाली में आमूल परिवर्तन सम्भव हुआ। शिक्षा सम्बन्धी उनके विचारों को पढ़ कर ऐसा प्रतीत होता है मानों वे "आधुनिक" हों। यूरोप की राजनीतिक विचारधारा को एक स्पष्ट आदर्श की दिशा में प्रवर्तित करने में रूसो के मतवाद ने बहुत बड़ा काम किया। फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति के परीधा के रूप में ही नहीं बल्कि एक प्रतिभाशाली चिन्तक और मानव हितैषी के रूप में भी चिरकाल तक मानव जाति के इतिहास में उनका नाम अमर रहेगा और सब देशों के लोग श्रद्धा के साथ उनका स्मरण करेंगे।

जीन जैकपूस रूसो का जन्म १७१२ ई० के जून महीने में जेनेवा में हुआ था। उनके पिता घड़ीसाज थे। जन्म के एक पखवारे के बाद ही उनकी माता की मृत्यु हो गयी। बचपन में उनका पालन-पोषण पिता और एक धाई की देख रेख में हुआ। माता का स्नेह उन्हें अपनी चाची से मिला। आगे चलकर यही उनकी अभिभाविका हुईं। किन्तु उसके आधीन रहकर रूसो का चरित्र गठन नहीं हुआ। एक बालक में जो स्वाभाविक दोष-त्रुटियाँ होती हैं उनकी ओर इसने ध्यान नहीं दिया और न उन्हें दूर करने की कोई चेष्टा की। इसका परिणाम यह हुआ कि बालक उच्छृङ्खल हो गया। अपने स्वभाव को संयत रखने की शिक्षा उसे नहीं मिली। रूसो के पिता भी सचरित्र नहीं थे। उनकी प्रकृति उग्र थी। जिस समय रूसो की अवस्था ६–७ साल की थी उसके पिता, बालक पुत्र को अपने पास बैठाकर उत्तेजनापूर्ण उपन्यास पढ़ा करते थे। ये ऐसे उपन्यास थे जिन्हें पढ़कर कोई भी सुकुमार मति बालक अपने मन को स्वस्थ नहीं रख सकता था। पिता की दृष्टि छिपा कर रूसो ने इन सब उपन्यासों को पढ़ना शुरू किया जिससे बाल्यकाल

से ही उनके मन में भावुकता एवं कल्पनाप्रियता जाग्रत हो उठी। वयस कुछ और अधिक होने पर उन्होंने अपने पितामह द्वारा संग्रहीत पुस्तकों में से पुस्तकें लेकर पढ़ना आरम्भ किया। इस संग्रह में कुछ अच्छी पुस्तकें भी थी। प्लूटार्क द्वारा लिखित "पैरेरल लाइवस" तथा इतिहास के कई ग्रन्थ इसी समय उन्होंने पढ़े। इन सब पुस्तकों का अमिट प्रभाव उनके मन पर पड़ा। विशेषकर "पैरेरल लाइवस" पढ़ कर महत्त्वाकांक्षा का जो बीज-वपन उनके मन में हुआ वह भावी जीवन मे अकुरित एवं पल्लवित हुए बिना नहीं रहा। इन सब पुस्तकों को पढ़कर ही उनके मन में दुस्साहिकता, स्वाधीनता के प्रति अदम्य अनुराग तथा गणतांत्रिक प्रणाली में विश्वास उत्पन्न हुआ। इसके साथ ही बाधाविघ्नो पर विजय प्राप्त करके अनमनीय दृढ़ता के साथ जीवन पथ में अग्रसर होने की प्रवृत्ति भी जाग्रत हुई। उनका स्वभाव क्रमशः उद्धत एव विद्रोही होता गया। प्रचलित समाज व्यवस्था द्वारा जिन सब ढोगो और रूढ़िगत विचारों को प्रश्रय मिल रहा था उनके प्रति उनका मन विद्रोही हो उठा। उनके मन में यह विश्वास घर करने लगा कि प्रचलित समाज-व्यवस्था का विध्वंस-साधन किये बिना मनुष्य का कल्याण नही हो सकता।

रूसो की अवस्था जिस समय दस वर्ष की थी उनके पिता एक व्यक्ति के साथ लड़ाई-झगड़े में फँस गये जिससे उन्हें कारागार के बदले देशनिर्वासन स्वीकार करना पड़ा। पिता जेनेवा छोड़ कर लेयन्स चले गये और बालक रूसो को अपने भाई की देख-रेख में छोड़ गये। इसके कुछ समय के बाद रूसो अपने मामा के घर चले गये। उनके मामा ने रूसो के समवयस्क अपने पुत्र तथा रूसो को एक धर्म-पुरोहित के घर पढने के लिये भेज दिया। वह धर्म-पुरोहित अपनी बहन के साथ, जिस की अवस्था तीस साल की थी, वहाँ रहता था। रूसो अवस्था में बहुत छोटे होने पर भी उसके प्रति प्रेमासक्त हो गये। आगे चल कर अपनी एक पुस्तक में उन्होंने यह स्वीकार किया कि यद्यपि नर-नारी के

पारस्परिक यौनाकर्षण का विषय उन्हें अज्ञात था किन्तु बाल्यावस्था के इस भावावेश ने उनके चरित्र पर गहरा प्रभाव डाला और यह प्रभाव आजीवन कायम रहा।

धर्म-पुरोहित के घर से लौट कर वे अपने मामा के यहाँ चले आये। फिर एक दस्तावेज लिखने वाले के साथ रह कर दस्तावेज लिखने की शिक्षा प्राप्त करने लगे। इसके बाद तीन साल तक एक भास्कर (प्रस्तर पर खोदाई करने वाले) के साथ रहे। यहाँ उन्होंने विद्या सीखने में कुछ उन्नति भी की किन्तु उनके जैसा झकी व्यक्ति के लिये यहाँ का वातावरण अनुकूल नहीं था। उनके ऊपर दबाव पड़ने लगा तो उनके लिये असह्य हो उठा। यहाँ रह कर रूसो ने चोरी करना, अपने साथियों के साथ बेहूदा मजाक करना आदि दुर्गुण भी सीखे। उनका शिक्षक ईमानदार होने के साथ-साथ एक कठोर अनुशासक भी था। इसलिए रूसो जैसी उद्धत प्रकृति के व्यक्ति के लिये वहाँ टिके रहना सम्भव नहीं हुआ। वह भाग निकले। कहाँ जायँगे कुछ ठिकाना नहीं। एक अनिर्दिष्ट अज्ञात पथ की यात्रा आरम्भ हुई और यही से उनके जीवन ने एक नया मोड़ लिया। एक स्थान से दूसरे स्थान मे घूमने, लोगों के साथ वाद-विवाद करने और पुस्तकें पढ़ने में उनके दिन व्यतीत होने लगे। उन्हें आशा थी कि एक विद्रोही युवक के रूप मे उनका सर्वत्र स्वागत होगा। किन्तु समाज ने उनकी उपेक्षा की जिससे उनके स्वाभिमान पर आघात पहुँचा। अन्ततः, कतिपय रोमन कैथलिक पादरियों की संगति में वे आये। पादरियों ने उन्हें एक वारेन्स नाम्नी महिला के पास भेज दिया इस विचार से कि वहाँ उन्हें आश्रय के साथ-साथ धार्मिक शिक्षा भी मिलेगी। रूसो उस महिला के घर मे रहने लगे। उनकी अवस्था उस समय सोलह वर्ष की थी। सुगठित देह, उज्ज्वल चक्षु, काले बाल और सुशोभन मुख-मण्डल, उनकी स्वामिनी २८ वर्ष की एक तरुणी विधवा थी, जो बड़ी उदार प्रकृति की थी और जिसके पास काफी पैसे थे। नवयुवक रूसो के प्रति उसका आकर्षण बढ़ने लगा।

यह आकर्षण अन्ततः प्रेम में परिणत हो गया। दोनों प्रेमिक-प्रेमिका की तरह रहने लगे। यहाँ रह कर रूसो ने लेटिन, संगीत, दर्शन एवं विज्ञान की शिक्षा प्राप्त की। रूसो यहाँ बहुत दिनों तक नहीं रह सके। एक दिन सहसा वे घर छोड़ कर निकल पड़े और फिर उनकी निरुद्देश्य जीवन यात्रा आरम्भ हुई। इस बीच में वे एक गृहस्थ परिवार के साथ रहे। फिर एक व्यक्ति के यहाँ उन्होंने नौकरी कर ली, किन्तु चोरी के अभियोग में वहाँ से हटा दिये गये। एक अन्य व्यक्ति के यहाँ काम करते हुए उनके मन में श्रीमती वारेन्स से, जिसके घर से वे भाग आये थे—मिलने की लालसा तीव्र हो उठी। इसलिये काम छोड़ कर वे वारेन्स के पास चले आये। उसने अपने खर्च से इन्हे शिक्षा समाप्त करने के लिये सेण्ट लजारे भेज दिया। शिक्षा समाप्त करके जब लौटे तब तक वारेन्स वहाँ से कहीं अन्यत्र चली गयी थी। अब संगीत की शिक्षा देकर वे जीविकार्जन करने लगे। इसके बाद एक ग्रीक संगीतज्ञ के निजी सचिव नियुक्त हुए। उनके मन में पेरिस जाने का विचार उत्पन्न हुआ। पेरिस पहुँच कर समाज के बहुत से गण्य-मान्य व्यक्तियों से मिले। शिष्ट समाज के साथ मेल-जोल बढ़ने से उनके आचरण में जो अभद्रता थी वह बहुत-कुछ दूर हो गयी। किन्तु पेरिस में बहुत दिनों तक नहीं रह सके। यहाँ बीस वर्ष की अवस्था में एक बार फिर श्रीमती वारेन्स के साथ साक्षात्कार हुआ। दोनों में प्रीति पुनः जाग्रत हो उठी। रूसो फिर उस महिला के प्रेमिक बने और दोनों साथ-साथ रहने लगे। यहाँ उन्होंने रसायन शास्त्र, संगीत और कला का अध्ययन किया। श्रीमती वारेन्स ने नगर से बाहर एक मकान लिया था जहाँ रूसो रह कर एक कठिन बीमारी के बाद अपना स्वास्थ्य सुधार करते थे। किन्तु रूसो ने स्वास्थ्य सुधार के लिये अन्यत्र जाने का निश्चय किया। वहाँ जाकर एक महिला के साथ उनका घनिष्ठ सम्पर्क हो गया। श्रीमती वारेन्स को जब इसका पता चला तो उन्होंने रूसो के साथ प्रेम-सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। रूसो जब स्वस्थ होकर वारेन्स के

घर लौटे, उन्होने एक अन्य व्यक्ति को प्रेमिक के रूप मे अपने स्थान प पाया। इसके बाद १७४१ ई० में वे फिर पेरिस आये और यही रे उनके प्रतिभादीप्त जीवन का गौरवपूर्ण अध्याय आरम्भ हुआ।

इस बार पेरिस में आकर वे पण्डित मण्डली के बीच विशे समाहत हुए। साहित्यकारों ने उनका सम्मान किया। कई विद्वान परिवारों के साथ उनका घनिष्ठ परिचय हुआ। इसी समय थेरेमिला भासाँ नाम की एक दासी के साथ उनका साक्षात्कार हुआ। उसके सौन्दर्य पर वे मुग्ध हो गये और उसके साथ विवाह कर लिया। इस विवाह से पाँच बच्चे हुए। रूसो ने अपनी "कनफेसनस्" पुस्तक मे अपनी इस स्त्री के सम्बन्ध में लिखा है:—"एक कुरूप, ज्ञानहीन, जड़बुद्धि एवं घृणित माता।" रूसो को विश्व कोष लिखने का काम मिला। इसके अतिरिक्त वे संगीत की शिक्षा भी देने लगे। एक लेखक एवं संगीत शिक्षक के रूप में पेरिस में उनकी ख्याति बढ़ने लगी। यद्यपि बाल्यकाल में नियमित रूप से उन्हें शिक्षा प्राप्त करने का सुयोग नहीं मिला था किन्तु अनेक विषयों में उन्होंने अच्छी अभिज्ञता प्राप्त कर ली थी। अब वे खूब जम कर लिखने लग गये थे। सन् १७५० में उन का एक निबन्ध प्रकाशित हुआ जिसके लिये उन्हें पुरस्कार मिला। दूसरी रचना के प्रकाशन के साथ-साथ उनका सुनाम और भी फैल गया। उन्हें राजदरबार मे वृत्ति एवं पद देने का प्रस्ताव किया गया। इस वृत्ति को यदि वे स्वीकार कर लेते तो सारी आर्थिक चिन्ताओं से सदा के लिए मुक्त हो जाते किन्तु उस समय राजदरबार का जैसा दूषित वातावरण था उसमें उन्होने पद एवं वृत्ति स्वीकार नहीं की।

उस समय लुई पन्द्रहवाँ फ्रान्स का राजा था। उसके समय मे राज्यतन्त्र की स्वेच्छाचारिता चरम सीमा पर पहुँच गई थी। राज्य के विभिन्न शासन-विभाग कतिपय सामन्त परिवारों के हाथ में थे। किसानों की दुर्दशा का कोई अन्त नहीं था। उन पर नाना प्रकार के अत्याचार किये जाते थे। केवल किसान ही नहीं व्यापारी और साधारण जन भी

उत्पीड़ित थे। देश के शासन में इनका कोई अधिकार नहीं था। इन दलित एवं उत्पीड़ित वर्गों में विक्षोभ एवं विद्रोह की भावना क्रमशः पूंजीभूत हो रही थी। मानव-हितैषी रूसो व्यथित चित्त से मनुष्य की यह दुर्दशा देखने लगे। उनके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि जब से मनुष्य आदिम प्रकृति की गोद से दूर होने लगा तभी से उसकी दुर्गति आरम्भ हुई है। इस लिए सब प्रकार की समस्याओं का समाधान एक मात्र इस उपाय से ही हो सकता है कि मनुष्य प्रकृति की ओर लौट चले। इसी विषय पर (सभ्यता की प्रगति का मनुष्य की नैतिकता पर प्रभाव) उन्होंने उपर्युक्त निबन्ध लिखा था जिसके लिए उन्हें पुरस्कार प्राप्त हुआ। अपने इस लेख में इन्होंने विभिन्न प्राचीन जातियों के धारावाहिक इतिहास से दिखलाया है कि संसार में जिस गति से शिल्प-विज्ञान की उन्नति हुई है, उसी गति से मनुष्य की नैतिक एवं चारित्रिक अधोगति भी हुई है। मनुष्य उस सुखमय आनन्दमय युग से जितनी ही दूर होता जा रहा है उतना ही उसके नैतिक बन्धन शिथिल होते जा रहे हैं। इसके बाद रूसो एक ऑफिस में कोषपाल के पद पर नियुक्त हुए। किन्तु अधिक दिनों तक इस पद पर नहीं रह सके। फिर साहित्य रचना की ओर ध्यान दिया। इस समय उन्होंने कई नाटक लिखे। ये नाटक अभिनीत भी हुए और उन्हें कुछ अर्थागम भी हुआ। प्रथम पुरस्कार प्राप्त करने के तीन वर्ष बाद एक दूसरा निबन्ध इन्होने लिखा। यह निबन्ध भी पूर्वोक्त साहित्यिक संस्था द्वारा घोषित पुस्कार के लिए लिखा गया था। निबन्ध का विषय था "मनुष्य में असमानता के मूल कारण" (दि ओरिजिनस् ऑफ इनइक्वेलिटी) किन्तु इस बार इन्हे पुस्कार नहीं मिला। अपने इस निबन्ध में इन्होंने यह प्रमाणित किया कि मनुष्य मे इस समय जो शारीरिक एवं मानसिक असमानता देखी जाती है वह प्राचीन युग में साधारणतः नहीं देखी जाती थी। सभ्यता की अग्रगति के साथ-साथ अविचार एवं अत्याचार मूलक पार्थक्य बढने लगा। व्यक्तिगत सम्पत्ति की भावना ने इस पार्थक्य बोध को और भी

परिपुष्ट किया । व्यक्तिगत सम्पत्ति ने मनुष्य को चोरी और बदमाशी करना सिखलाया है । व्यक्तिगत धन-संचय की रक्षा के लिए सभ्यता ने कितने ही कानून बनाये हैं । कानून बनने के साथ-साथ नये-नये अपराधों की सृष्टि हुई है । जिस समय कानून नहीं बने थे उस समय की अपेक्षा कानून द्वारा शासित समाज में दीन-दरिद्रों की पराधीनता एवं असहायता और भी बढ़ गयी है । दूसरी ओर धनी मानी व्यक्ति समाज में शक्तिशाली बनते जा रहे हैं ।

राजतंत्र के अन्याय एवं अत्याचार तथा साधारण जनों की दुखदुर्गति देख कर रूसो की विप्लवात्मक प्रवृत्ति क्रमशः उग्र से उग्रतर होने लगी । पेरिस नगर से बाहर वे एक गाँव में एक कुटी खरीद कर वहीं वास करने लगे । यहाँ रहते हुए एक बार वे फिर प्रेम के चक्कर में पड़ गये जिसको लेकर उनकी काफी बदनामी हुई । इसके बाद १७१० में उनकी एक पुस्तक "The New Hetoise" प्रकाशित हुई । यह पुस्तक लोकप्रिय सिद्ध हुई । इसके दो वर्ष बाद उनका सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ "Social Contract" प्रकाशित हुआ । इसी साल "Emile" नामक एक और पुस्तक का भी प्रकाशन हुआ । अपनी पहली पुस्तक मे उन्होंने राज्यशासन के सम्बन्ध में एक सम्पूर्ण क्रान्तिमूलक विचार-धारा का प्रतिपादन किया । इसमें राजतंत्र का घोर विरोध किया गया था और बताया गया था कि शासक और शासितों के बीच एक इकरार के द्वारा सरकार का गठन होता है । समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपनी इच्छा को समष्टि की इच्छा में इसलिए समर्पित कर देता है कि उसे सुरक्षा प्राप्त होगी । अपनी इस पुस्तक में रूसो ने गणराज्य की माँग की है जिसमे सार्वजनिक मताधिकार होगा और प्रत्येक नागरिक स्वतन्त्रता, समानता एवं बन्धुत्व का उपभोग करेगा । बाद में चल कर फ्रांसीसी राज्य क्रान्ति के समय "स्वतंत्रता, समानता और बन्धुत्व" यही क्रान्तिकाल का सिंहनाद हुआ ।

'एमिली' पुस्तक में बच्चों को घर में शिक्षा देने की प्राकस्य

कता पर ज़ोर दिया गया है, ईसाई धर्म के परंपरागत सिद्धान्त का विरोध तथा एकेश्वरवाद का समर्थन किया गया है। भोजन, सफाई जैसे विषयों पर भी सम्पूर्ण अभिनव रूप में इस पुस्तक में विचार किया गया है। किन्तु मूलतः यह एक शिक्षा सुधार विषयक पुस्तक है। बच्चो की शारीरिक, मानसिक एवं नैतिक शक्तियों के विकास के लिए इसमे जो युक्तियाँ उपस्थित की गयी है उनसे आधुनिक काल के फ्लोबेल और पेस्टालजी जैसे प्रसिद्ध शिक्षण शास्त्री भी बहुत अंशों मे प्रभावित हुए हैं। 'ऐमिली' पुस्तक के प्रकाशन के फलस्वरूप रूसो के विरोधियों की सख्या बहुत बढ़ गयी। विशेषकर कट्टरपंथी धर्मपुरोहित, रईस और राजा उनके शत्रु हो गये। उनकी कई पुस्तकों को प्रकाश्य रूप में जनता के सामने जलाया गया। उन्हें सूचित किया गया कि यदि वे देश छोड कर चले नहीं जायेंगे तो उन्हें गिरफ्तार कर लिया जायेगा। निदान रूसो पेरिस छोड़कर अन्यत्र चले गये। कुछ समय तक प्रसिया के सम्राट फ्रेडरिक दि ग्रेट के आश्रय में रहे। किन्तु यहाँ भी अपने विचारों को वे दबाकर नहीं रख सके। पेरिस के बड़े पादरी ने उनके विरुद्ध एक घोषणापत्र प्रकाशित किया। रूसो न तीव्र भाषा में उसका उत्तर दिया। जेनेभा की सभा ने भी उनकी एमिली पुस्तक की कठोर निन्दा की। इस पर जेनेभाजो उनकी जन्मभूमि था— की नागरिकता का उन्होंने परित्याग कर दिया और उसके शासनतंत्र पर कठोर भाव से आक्रमण किया। अब स्वीटजरलैण्ड में रहना भी उनके लिए असभव हो गया। वहाँ से भाग कर कई स्थानों में घूमते हुए इंगलैण्ड के विख्यात विद्वान डेमिड ह्यूम की सहानुभूति के कारण १७६६ ई० के जनवरी में इंगलैण्ड आये और वहाँ शान्तिपूर्वक वास करने लगे। लदन में यद्यपि उनके चरित्र को लेकर सभ्य समाज में कानाफूसी होने लगी फिर भी वहाँ की जनता ने उदारता के साथ उनका स्वागत किया। लंदन में भी अधिक समय तक सुखपूर्वक रहना उनके भाग्य मे नही बदा था। वहाँ के लोगों में भी उनके कुछ विरोधी हो गये।

डेविड ह्यूम ने उनके वास के लिए एक ग्राम ठीक कर दिया। इस ग्राम में रहते हुए उन्होंने अपनी "आत्मचरित्र" (कनफेसन) पुस्तक के अनेक अंश लिख डाले। ह्यूम के साथ कई बातों को लेकर प्रचण्ड कलह हो गया जिससे इंगलैण्ड छोड़कर १७६२ ई० में फ्रान्स लौट आये। यहाँ अधिक दिन नहीं रह सके। फिर वहाँ से भाग निकले और घोर दुःख एवं अभाव के बीच यत्र-तत्र भटकते रहे। किन्तु इस प्रकार की अव्यवस्थित दशा में भी 'आत्मचरित्र' का लिखना जारी रहा। १७७० के ग्रीष्मकाल में एक बार फिर पेरिस पहुँच कर अपस्थान करने लगे। यहाँ काफी समय तक शान्ति के साथ रहे और अपने आत्मचरित्र को समाप्त किया। एक और पुस्तक की यहाँ रचना की। अपने जीवनकाल के संस्मरणों को लेकर एक पुस्तक लिखना आरम्भ किया जो विशुद्ध कला की दृष्टि से संभवतः उनकी सर्वश्रेष्ठ पुस्तक समझी जाती है। उनके मस्तिष्क का विकार कभी दूर नहीं हुआ। सदा यह भय बना रहता था कि उनके गुप्त शत्रु उनकी घात में लगे रहते हैं। इस समय तक उन्होंने अपनी प्रेयसी थेरेसी से विवाह कर लिया था। किन्तु अन्ततः उसके चरित्र पर भी उन्हें सन्देह हो गया। १७७८ ई० की दूसरी जुलाई को उनका शरीर और चेहरा परिप्लुत एवं रक्तिम पाया गया। मृत शरीर को देख कर डाक्टर यह ठीक ठीक अनुमान नहीं कर सके कि मृगी रोग से उनकी मृत्यु हुई है अथवा उन्होंने विषपान द्वारा आत्महत्या की है।

रूसो के चरित्र को लेकर उनके समसामयिक तथा परवर्त्ती काल के अनेक लेखकों ने बहुत कुछ लिखा है। उनके निन्दक एवं प्रशंसक दोनों ही हैं। यह स्पष्ट है कि नैतिक दृष्टि से उनका चरित्र उन्नत नहीं था। चित्त में दृढ़ता नहीं थी। किसी पर विश्वास नहीं करते थे। अपने शत्रुओं से घृणा करते थे। उद्धत एवं उग्र स्वभाव का होने के कारण किसी को अपना अन्तरङ्ग मित्र नहीं बना सके। जीवन का अधिकांश अभाव एवं दरिद्रता के बीच व्यतीत हुआ जिससे स्वभाव

बहुत चिड़चड़ा हो गया था। जीवन में उन्होंने जो सब दुष्कर्म एवं पापाचार किए उन्हें अपने आत्मचरित्र में स्पष्ट भाव से स्वीकार किया है। कुछ लोगों ने इस पुस्तक की बहुत सी बातों को अतिरञ्जित एवं कल्पित बताया है। फिर भी इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि अपने चरित्र के सम्बन्ध मे कलंकपूर्ण बातों को स्पष्ट रूप से स्वीकार कर के उन्होंने समालोचकों की दृष्टि में अपने को ऊँचा उठा लिया है।

जीवन की समस्त दुर्बलताओं पर विचार करते हुए भी यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि रूसो एक असाधारण प्रतिभाशाली मनुष्य थे। यही कारण है कि जीवन में उन्हें जो सम्मान नहीं मिला वह बाद में देश-विदेश के पण्डितों द्वारा प्राप्त हुआ। अपनी रचनाओ मे जो भावादर्श वे छोड़ गये उनसे परवर्त्ती युग के यूरोप और अमेरिका के बहुत से चिन्ताशील व्यक्ति प्रभावित हुए। लार्ड मार्ले जैसे विज्ञ-व्यक्ति ने उनके सम्बन्ध में लिखा है, "फ्रांस देश की सम्पूर्ण राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था जिस समय सांघातिक रूप मे क्षयिष्णु हो रही थी उस समय उस अवस्था से उसका उद्धार करने का श्रेय यदि किसी को है तो वह रूसो है। अपनी रचनाओं द्वारा उन्होंने यह काम किया।" उनकी अग्निवर्षी लेखनी ने सारे फ्रान्स में क्रान्ति की चिनगारियों को विकीर्ण कर दिया। रूसो की रचनाओं से केवल फ्रान्स की राज्य क्रान्ति को ही नहीं अमेरिका के स्वाधीनता संग्राम को भी प्रेरणा मिली। अमेरिका में स्वाधीनता का जो घोषणा पत्र तैयार किया गया था उसके लिए रूसो के लेखों से ही प्रेरणा ग्रहण की गयी। पद-दलित लाञ्छित एवं अत्याचार पीड़ित फरांसीसी जाति ने रूसो की रचनाओं को पढ़ कर अपने अन्तर में एक तेज एवं दुर्दमनीय शक्ति क अनुभव किया। उसका स्वाभिमान जाग उठा और आदम्य संकल्प ग्रहण करके वह सफलता के साथ क्रान्ति के मार्ग पर अग्रसर हुई।

अन्याय एवं अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह एवं विप्लव के बीज बोने वाले दूरदर्शी विचारक एवं आदर्शवीर केवल देश विशेष में नहीं

बल्कि सब देशों में युग-युग तक वन्दित होते रहते हैं। अंधविश्वास, कुसंस्कार, दैव और नियति पर भरोसा, अपर जन्म में पुरस्कार की आशा से वर्त्तमान की अवहेलना, मौन भाव से अन्याय, अत्याचार सहन एवं दुःख कष्ट वरण-मध्ययुग के इन सब आदर्शों की भंडता दिखलाकर रूसो ने मनुष्य के प्रति प्रेम, न्याय एवं सुविचार के आदर्श का प्रचार किया। वे मनुष्य के अकृत्रिम बन्धु और हितैषी थे। उनमें दोष चाहे जो कुछ हों किन्तु उन्होंने मानव जाति का जो कल्याण किया है उसके सामने वे दोष नगण्य ही समझे जायेंगे। एक युगप्रवर्त्तक मनीषी के रूप में उन्हें हम चिरकाल तक स्मरण करते रहेंगे।

८

चार्लस् डारविन

आधुनिक युग में ऐसे कितने ही चिन्तावीर उत्पन्न हुए हैं जिन्होंने अपने वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा मनुष्य के प्रचलित विश्वास एवं बद्धमूल धारणाओं पर आघात पहुँचा कर उन्हें सम्पूर्ण परिवर्त्तन कर दिया है। मनीषी चार्लस डारविन इसी कोटि के चिन्तावीर थे। उनके मतवाद "थ्योरी ऑफ् इभलिऊशन" ने आज से प्राय सवा सौ वर्ष पूर्व मनुष्य के विचार जगत में एक क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी। उनके अभिव्यक्तिवाद या विवर्त्तनवाद के सिद्धान्त की व्याख्या उपहास के रूप में जनसाधारण में प्रचलित है—वानर से मनुष्य, अर्थात् मनुष्य जाति के पूर्वज बंदर थे। जिस समय डारविन ने अपना यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था उनके इस मत को लेकर बहुत कुछ आलोचना हुई थी और इस विषय पर बड़े-बड़े ग्रन्थ विद्वानों द्वारा लिखे गये थे।

जिस प्रकार क्रिस्टोफर कोलम्बस तीन जहाजों को साथ लेकर स्पेन से अज्ञात जगत की खोज में चल निकला था और समुद्र मार्ग से भटकते भटकते नयी दुनिया अमेरिका का पता लगाया उसी प्रकार जब

सन् १८३६ ई० में ब्रिटिश सरकार ने प्राकृतिक तत्वों का पता लगाने के लिए 'बिगल' नामक जहाज को प्रेषित किया उस समय किसने यह कल्पना की थी कि इस जहाज का एक तरुण यात्री वैज्ञानिक डारविन एक अज्ञात प्राकृतिक रहस्य का उद्घाटन करके सबको चकित कर देगा। डारविन की अवस्था उस समय मात्र बाइस वर्ष की थी। कैम-ब्रिज विश्वविद्यालय से निकले हुए अभी कुछ ही दिन हुए थे। वह एक धीरवृत्त, मेधावी, मितभाषी एवं भावुक युवक थे। मन में जिज्ञासा एवं कौतूहल की प्रबल भावना थी। आरम्भ में समुद्र-यात्रा की बात सोचकर उनका मन कुछ कातर हो उठा। किन्तु अपने अदम्य उत्साह के बल पर उन्होंने दृढ़ साहस एवं संकल्प ग्रहण किया। जहाज पर यात्रा करते हुए उन्होंने चतुर्दिक् के जो विचित्र दृश्य देखे उनसे उनका मन विस्मयविमुग्ध हो उठा। नाना प्रकार के जीव जन्तु, कीट-पतंग, पेड़-पौधे आदि की विशिष्टताओं को वे बड़े ध्यान के साथ लक्ष्य और उनके कारणों पर सूक्ष्म विचार करने लगे। एक-एक जीव जन्तु की विशेषता, एक-एक घटना उनके मन को आलोड़ित करने लगी।

निदान दक्षिण अमेरिका के तीर से बहुत दूर प्रशान्त महासागर के द्वीप पुञ्ज गैलापेगस (Galapagos) में जहाज या पहुँचा। यह स्थान बिलकुल निर्जन था। जब डारविन ने जहाज से तटभूमि पर अवतरण किया उन्होंने जो कुछ देखा उससे उन्हें ऐसा लगा कि वे मानो किसी प्राचीन युग के जीव-जन्तु शाला या ज़ू में आ पहुँचे हैं। वहाँ उन्होने वृहत् आकार के गिरगिटों, कछुओं और लाल रंग के केकड़ों को स्वच्छन्द भाव से विचरण करते देखा। उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत हुआ कि इन जीव-जन्तुओं ने इससे पहले कभी मनुष्य को नहीं देखा था। वे सब मनुष्य की उपस्थिति से भयभीत नहीं हो रहे थे। पेड की डाली पर बैठे हुए पक्षी डारविन के कंधे पर आकर बैठ गये। डारविन ने विचार किया कि इन सब जीव-जन्तुओं का वंशलोप तो बहुत पहले ही हो जाना चाहिये था। आदिम युग में इनका अस्तित्व

पृथ्वी पर अवश्य पाया जाता था, किन्तु इस समय तो ये दुर्लभ हो रहे हैं। सबसे बढ़ कर आश्चर्य इस बात पर हुआ कि उस द्वीपपुञ्ज की मिट्टी और जलवायु एक समान होने पर भी एक ही श्रेणी के प्राणियो मे परस्पर पार्थक्य था। दक्षिण अमेरिका के अनेक जीव-जन्तुओं के साथ इस द्वीपपुञ्ज के जीव-जन्तुओं का मेल होने पर भी उनमें पृथकता थी। डारविन ने देखा कि भिन्न-भिन्न द्वीपों के पहाड़, जलवायु आदि प्राकृतिक आवेष्टन एक समान होने पर भी वहाँ के एक ही श्रेणी के जीव-जन्तुओ के आकार प्रकार एवं शारीरिक गठन में विभिन्नता है। उदाहरण के लिए फिंच जाति के पक्षी सब द्वीपों में पाये जाते थे। किन्तु एक द्वीप के पक्षी के साथ दूसरे द्वीप के पक्षी का कुछ भी मेल नहीं था। इसी प्रकार गिरगिट, कछुआ और केंकड़ा भी भिन्न-भिन्न प्रकार के थे।

डारविन के मन में विचार-मन्थन उत्पन्न हुआ। इस विभिन्नता का कारण क्या है? साधारणजनों की तरह उन्हें इतने से ही संतोष नही हुआ कि जीवों में परस्पर यह जो विभिन्नता पायी जाती है वह भगवान की सृष्टि लीला है। इसके विरुद्ध यदि कोई मत प्रकट किया जाय तो उसका अर्थ होगा केवल बड़े-बड़े वैज्ञानिकों के मत के विरुद्ध जाना ही नहीं बल्कि भगवान की सृष्टि को भी अस्वीकार करना। अपनी डायरी में उन्होंने लिखा है, "यह कल्पना की जा सकती है कि एक-एक जाति के जीव भिन्न-भिन्न स्थानों में वास करते हुए किसी उद्देश्य विशेष के साधन के लिए अपने अवयवों का गठन विभिन्न रूपों में करने लगते हैं जिससे उनमें रूपान्तर हो जाता है। सृष्टि के आरम्भ में जो सब जीव-जन्तु पाए जाते थे उन्हें आज हम इस निर्जन स्थान में देख रहे हैं। अब तक इन सब जीवों का आविर्भाव हमारे लिए रहस्यमय था। किन्तु अब वह रहस्य पहले की तरह दुर्बोध्य नहीं रह गया।"

डारविन का जन्म सन् १८०९ ई० में इङ्गलैण्ड के श्रुसबेरी नामक स्थान में एक सुसंस्कृत वंश में हुआ था। उनके पितामह इरेसमस डारविन विख्यात वैज्ञानिक थे विवर्त्तनवाद के सम्बन्ध में उनका भी

एक मतवाद प्रचलित है। पिता राबर्ट डारविन स्रुसबेरी के एक श्रेष्ठ अस्त्रचिकित्सक थे। बालक डारविन पढ़ने-लिखने में कम मन लगाते थे। इसलिए पिता ने एक दिन भर्त्सना करते हुए कहा—"तुम बिलकुल नालायक हो। सारा दिन चिड़ियों का शिकार करने और चूहे पकड़ने में लगे रहते हो। तुम खुद तो डूबोगे ही, साथ-साथ अपने वंश को भी कलंकित करोगे।" पिता डाक्टर थे इस लिए उन्हें भी डाक्टरी विद्या पढ़ने के लिए एडिनबरा भेजा गया। किन्तु डाक्टरी विद्या उनके मन के अनुकूल नहीं थी। वहाँ वे केवल दो साल तक रहे। इसके बाद पढ़ना छोड़ कर केम्ब्रिज चले आये और क्राइस्ट कालेज में भर्ती हो गये। यहाँ तीन साल तक पढ़ते रहे। विज्ञान विषय उनकी रुचि के सर्वथा अनुकूल था। उनके अध्यापक उन्हें बराबर प्रोत्साहन दिया करते थे। पाठ्यक्रम समाप्त होने पर उन्हें उपाधि मिली और इसके बाद एक ऐसी नौकरी मिल गयी जिसने उनके जीवन की धारा को सम्पूर्ण परिवर्त्तित कर दिया। बिगल जहाज पर उन्हें प्राणिशास्त्र वेत्ता का पद मिला। जिस समय उनकी नियुक्ति की बात चल रही थी, जहाज के कप्तान ने उनकी नियुक्ति का अनुमोदन यह कह कर नहीं किया कि "इस प्रकार की आकृति वाले व्यक्ति में समुद्र यात्रा के लिये उपयुक्त संकल्प एवं उद्देश्य का अभाव पाया जाता है।"

पाँच साल तक बिगल जहाज दक्षिणी अमेरिका के विभिन्न द्वीपों में तथा न्यूजीलैंड, अस्ट्रेलिया, टैसमैनिया आदि देशों में घूमता रहा। इन सब स्थानों के जीव-जन्तुओं में जो विभिन्नताएँ पायी जाती थीं उन पर विचार करते हुए उनके मन में बराबर एक ही प्रश्न उठने लगा कि आखिर इस विभिन्नता का कारण क्या है? जीव-जन्तुओं में इतनी जो विभिन्नता एवं विचित्रता पायी जाती है उसका क्या कोई उद्देश्य नहीं है? सृष्टिकर्त्ता ने क्या महज खामखयाली के लिए इतने विभिन्न एवं विचित्र प्रकार के जीवजन्तुओं की सृष्टि की है? इन्हीं प्रश्नों पर वे विचार करने लगे और इनके तर्कसंगत उत्तर ढूँढ निकालने के लिये

गम्भीर चिन्तन रत रहने लगे। प्रत्येक स्थान से वे भाँति-भाँति के नमूना संग्रह करने लगे। इस प्रकार गवेषणा करते हुए पाँच वर्ष बीत गये और इसके बाद डारविन स्वदेश लौटे। जहाज पर से उन्होंने जो सब पत्र विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशनार्थ भेजे थे उनके प्रकाशित होने पर उनकी ख्याति इङ्गलैण्ड में चारों ओर फैल गयी थी। अब वे पहले की तरह एक अज्ञात युवक नहीं रह गये थे। अपने साथ उद्‌भिद और जीवजन्तुओं के जो नमूना लाये हुए थे उन्हें देख कर उनके सम्बन्ध मे लोगों के मन में और भी कौतूहल जाग्रत हुआ।

अपने पाँच साल के पर्यवेक्षण में उन्होंने जो कुछ ज्ञान एवं अनुभव प्राप्त किये थे उन्हें एक नोटबुक में दर्ज कर लिया था। उसके आधार पर अपने सिद्धान्त को अच्छी तरह प्रतिपादित करने के लिए कठिन परिश्रम करने लगे। इसी समय उनकी एक पुस्तक प्रवाल द्वीप और सामुद्रिक जीवों के सम्बन्ध में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक से पण्डित मण्डली में उनकी प्रसिद्धि फैल गयी। किन्तु विवर्त्तनवाद के सम्बन्ध मे अभी तक उन्होंने अपना मतवाद प्रकाशित नहीं किया था। लगातार बीस वर्षों तक वे गवेषणा में लगे रहे और तथ्यों का संग्रह करते रहे। दो-एक अन्तरङ्ग बन्धुओं के सिवा अपना मत उन्होंने किसी के सामने व्यक्त नहीं किया था। जब जो विचार उनके मन में उत्पन्न होता नोट-बुक में दर्ज कर लेते थे। उनका विचार था कि अपने मतवाद की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में जब तक मुझे पूर्ण आत्म-सन्तोष नहीं हो जायगा तब तक मैं अपना मतवाद प्रकाशित नहीं करूँगा। बीस वर्ष तक अथक परिश्रम और असीम धैर्य के साथ वे अपने मतवाद के पक्ष मे प्रमाण संग्रह करते रहे। निरन्तर अनुसन्धान में लगे रहते। अन्त में एक दिन उन्होंने अपने एक मित्र को लिखा—"इतने दिनों के बाद अन्धकार के बीच मुझे प्रकाश दिखाई पड़ा है। जीवों के विवर्तन के सम्बन्ध में अब मुझे कोई सन्देह नहीं रह गया है।"

एक दिन प्रातःकाल डारविन जलपान करने के लिए टेबुल पर

बैठे हुए थे। उन्हें डाक से एक लिफाफा मिला। खोल करदेखा तो उसमे एक लेख था। उसके लेखक थे अलफ्रेड रसेल वालेस। लेख का विषय था विकासवाद। डारविन उस लेख को पढ़ कर चकित हो गये। उन्हे ऐसा लगा मानों उन्हीं की पाण्डुलिपि को पढ़ कर यह लेख लिखा गया है। ठीक वही सब प्रमाण और युक्तियाँ। किन्तु लेखक रसेल ने सुदूर पूर्व के द्वीप पुञ्ज से उसे लिखा था, इस लिए डारविन के मतवाद से पूर्व परिचित होने की कोई कल्पना नहीं की जा सकती थी। डारविन एक महामना मनीषी थे। इस लिए उन्होंने विचार किया कि वे अपना मतवाद प्रकाशित नहीं करेंगे। अलफ्रेड रसेल एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक थे। इस लिए डारविन ने जब यह देखा कि रसेल जैसे विद्वानों ने उनके मतवाद का समर्थन किया है तब उनका सारा संशय दूर हो गया। अन्ततः, उन्होंने रसेल को एक पत्र लिखा और तब यह निश्चय हुआ कि दोनों के नाम से वह निबन्ध लिनियन सोसाइटी के पास भेज दिया जाय।

ये दोनों पण्डित जो पृथक्-पृथक् रूप से एक ही सिद्धान्त पर पहुँचे थे इसका एक कारण यह था कि दोनों ने मालथस् की पुस्तक "जनसंख्या और खाद्य" पढ़ी थी। सन १७९८ में यह पुस्तक प्रकाशित हुई थी। मालथस् ने इस पुस्तक में बताया था कि पृथ्वी पर जिस हिसाब से जनसंख्या में वृद्धि हो रही है, खाद्य के परिमाण में उस हिसाब से वृद्धि नहीं हो रही है। यह जनसंख्या यदि इसी तरह बढ़ती गयी तो एक दिन मनुष्य जाति नाश को प्राप्त होगी। इस लिए उन्होंने "अस्तित्व के लिये संग्राम" (Struggle for existence) की बात लिखी थी। रसेल और डारविन ने इस पुस्तक को पढ़ा था और इसका बहुत कुछ प्रभाव उनके मन पर पड़ा था। मालथस् स पूर्व एक और वैज्ञानिक लैमार्क ने यह मत प्रकट किया था कि जीव-जन्तु उत्तराधिकार-सूत्र से अनेक गुण प्राप्त करते हैं, किन्तु जीव मात्र परिवर्त्तनशील हैं। प्राणियों के शरीर के जो सब अङ्ग व्यवहृत होते रहते हैं उनकी उन्नति

होती है और जो कम व्यवहृत होते हैं उनकी अवनति होने लगती है। मनुष्य पहले आजानुबाहु था, किन्तु ज्यों-ज्यों वह हाथ से कम लेने लगा त्यों-त्यों उसका हाथ छोटा होता गया। कई जाति के बन्दर, गरीला, शिम्पंजी, गिबन आदि के हाथ अभी तक आजानुलंबित हैं।

डारविन और वालेस ने लिनियन सोसाइटी के पास जो निबन्ध भेजा था उसका सार मर्म इस प्रकार था—"जितने प्राणी हैं सब अपना वंश विस्तार करते हैं, किन्तु उनके सब वंशज जीवित रह जायँ तो उनके लिए पृथ्वी पर स्थान ही नहीं होगा। मछली की संख्या यदि बढती ही जाती तो एक दिन मछलियों के रहने के लिए जल में स्थान नहीं रह जाता। इस लिए मछली तथा अन्य जीव-जन्तुओं में नित्य भोजन को लेकर संग्राम चलता रहता है। इस लिए ज्यामितिक हिसाब से वृद्धि होने पर भी संख्या में समता बनी रहती है। विरुद्ध जलवायु, सन्तति के प्रति उदासीनता, परस्पर युद्ध तथा अन्यान्य जीव-जन्तुओं के साथ प्रतियोगिता में अधिकांश जीवजन्तु नष्ट हो जाते है।

प्रकृति में जीवन संग्राम निरन्तर चलता रहता है। जीवों मे परस्पर इतनी विभिन्नताएँ पायी जाती हैं कि उनकी कोई सीमा नही। इस जीवन संग्राम में वही विभिन्नता या विचित्रता अन्त तक कायम रह जाती है जो संग्राम में प्राण धारण के लिए अनुकूल होती है, जो प्रतिकूल होती है वह लुप्त हो जाती है। इस प्रकार प्रकृति द्वारा योग्यतम का निर्वाचन (Natural Selection) होता रहता है। इस प्राकृतिक निर्वाचन में जो जीव टिक रहते है उनकी अवस्था वश परम्परा क्रम से उन्नत होती रहती है जिससे एक दिन उनके आकार-प्रकार में इतना परिवर्त्तन हो जाता है कि वे नये जीव प्रतीत होने लगते हैं। इसी का नाम विवर्त्तन है। इस विवर्त्तन के नियमानुसार ही पृथ्वी पर नये-नये जीवों की सृष्टि हुई है और हो रही है।

लिनियन सोसाइटी में जब यह निबन्ध पढ़ा गया तो पण्डित-मण्डली में उत्तेजना फैल गयी। सृष्टि तत्त्व के सम्बन्ध में यह एक सम्पूर्ण

अभिनव सिद्धान्त था। अब तक जितने पुराने और नये विद्वानों ने इस विषय पर अपना मत व्यक्त किया था उन सब के मत का इससे खण्डन हो जाता था। किन्तु डारविन की इस व्याख्या से जीव सृष्टि के विकास पर एक विज्ञान सम्मत आलोक प्राप्त हुआ—एक धाराबाहिक सुश्रृङ्खल नियम।

इसके दूसरे वर्ष डारविन का विख्यात ग्रन्थ "जीवों की उत्पत्ति" (ओरिजिन ऑफ् दि स्पीसेज) प्रकाशित हुआ। जब प्रकाशक के पास इसकी पाण्डुलिपि पहुँची उसने इसे एक पागल का प्रलाप समझा। किन्तु जिस दिन पुस्तक प्रकाशित हुई उसी दिन उसकी सारी प्रतियाँ बिक गयीं। पुस्तक के विषय को लेकर तुमुल वाग्वितंडा शुरू हुई। विभिन्न प्रकार के मन्तव्य प्रकट किये जाने लगे। किसी ने कहा यह व्यक्ति निपट पागल है। किसी ने कहा यह एक प्रतिभाशाली व्यक्ति है। कुछ लोग यह भी कहने लगे कि विज्ञान के नाम पर उच्छृङ्खलता की सृष्टि हो रही है। बाइबिल के मत के विरुद्ध इसने जाने का दुःसाहस किया है। अस्तु, ग्रन्थ के प्रकाशन के साथ-साथ सारे यूरोप और अमेरिका में डारविन के नाम की चर्चा होने लगी।

डारविन ने लिखा, यदि यह कहें कि तीर धनुष से पियानो बाजा और रायफल की सृष्टि हुई है तो कोई इस पर सहसा विश्वास नहीं करेगा। किन्तु वस्तुतः बात ऐसी ही है। प्राचीन युग में तीर धनुष ही मनुष्य का सबसे प्रधान अस्त्र था। धनुष की डोरी पर तीर रख कर जब वह निशाना लगाता था, उस समय टन की आवाज होती थी। तीर धनुष चलाने वालों में कोई ऐसा संगीत रसिक गुणी व्यक्ति होगा जिसके मन में धनुष की ज्या या डोरी से कोई वाद्य यन्त्र तैयार करने की कल्पना जगी होगी और उसने उस कल्पना को मूर्त्त रूप दिया होगा। बाद में चलकर वही वाद्य यन्त्र क्रमशः उन्नति करते-करते वीणा या पियानो के रूप में परिणत हो गया। इसी प्रकार अनेक परिवर्त्तनों के बीच से होकर आज रायफल तैयार हुआ है। फिर रायफल से

मशीन गन, लिडिट्स गन इत्यादि ।

ठीक इसी प्रकार जीवमात्र ज्ञात या अज्ञात रूप में परिवर्त्तन-शील हैं। यह परिवर्त्तनशीलता जीवन-संग्राम की प्रतियोगिता अथवा अस्तित्व के लिये अनिवार्य है । इन्हीं सब तथ्यों के आधार पर विवर्त्तन-वाद के सिद्धान्त ने रूप ग्रहण किया । वास्तव जगत में जो दुर्बल या निकृष्ट है वे प्रतियोगिता में टिके नहीं रह सकेंगे । यही "योग्यतम का दूसरों को परास्त कर जीवित रहना (Survival of the fittest) है।

डारविन को अपने मतवाद के लिये सबसे अधिक विरोध का सामना करना पड़ा कट्टरपंथी ईसाई पादरियों का। उन्होंने डारविन के मतवाद को धर्म के लिये घातक समझा। यदि धर्म-शास्त्र के अनुशासन को लोग अमान्य करने लग जायँगे तो समाज में पापाचार फैलेगा। सैमुयल विलयर फोर्स नामक एक बड़े पादरी ने स्पष्ट रूप से यह घोषित किया कि डारविन के सिद्धान्त को मान लेने का अर्थ होगा बाइबिल और ईश्वर को अस्वीकार करना। डारविन के युवक शिष्य टामस् हक्सले ने पुरोहित वर्ग को ऑक्सफोर्ड में शास्त्रार्थ के लिये चुनौती दी। इस शास्त्रार्थ में एक ओर वैज्ञानिक हक्सले और दूसरी ओर धर्म पुरोहितों की ओर से सैमुयल विलयर फोर्स प्रवृत्त हुए। दोनों में भीषण उत्तेजनापूर्ण वातावरण के बीच तर्क युद्ध आरम्भ हुआ । पुरोहित सम्प्रदाय के लोग काफी संख्या में वहाँ उपस्थित थे । महिलाएँ पादरी विलयर फोर्स को रुमाल हिला हिलाकर उत्साहित कर रही थीं । उधर ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के छात्र और वैज्ञानिक हक्सले की पीठ पर थे। विलयर फोर्स की युक्तियाँ बिल्कुल थोथी थीं—ऐसी युक्तियाँ जो वैज्ञानिक युक्तियों के सामने एक क्षण भी नहीं ठहर सकतीं थी इसलिए वे तर्कयुद्ध में पराजित होकर व्यंग्य-विरूप पर उतर आए। हक्सले की ओर देखते हुए उन्होंने व्यंग्य पूर्वक प्रश्न किया—"महोदय, मै क्या यह जान सकता हूँ कि आपका मातृकुल वानर वंशोद्भव है अथवा पितृकुल ?" इस प्रश्न से अणुमात्र भी विचलित न होकर हक्सले

ने उत्तर दिया—"एक ऐसा व्यक्ति जो जिस विषय को नहीं जानता फिर भी व्यर्थ तर्क करता है, ऐसे अज्ञ व्यक्ति का वंशधर होने की अपेक्षा मैं पितृ-मातृ दोनों कुलों में वानर वंशोद्भव होना अपने लिये अधिक गौरव का विषय समझूँगा।"

इधर डारविन सारे वाद-विवाद से अपने को पृथक् रख कर अपने परिवार के साथ शान्तिपूर्वक केंट में दिन व्यतीत कर रहे थे। उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता था। बड़े संयम के साथ जीवन बिता रहे थे। लोगों से मिलना-जुलना भी बहुत कम होता था। सारा दिन निजी पुस्तकालय और प्रयोगशाला में व्यतीत होता था। उन्होंने और भी कई पुस्तकें लिखीं जिनमें "दि भयाज ऑफ दि बिगल" "दि डिसेन्ट ऑफ् मैन" विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

उनका चरित्र सर्वथा निष्कलंक था। जीवन में उन्हें प्रशंसा ही प्रशंसा मिली। बहुत प्रयत्न करने पर भी उनके शत्रु उनके चरित्र में कोई कलंक नहीं निकाल सके। उन्हें फूल और बच्चे बहुत प्रिय थे। उन्होंने कभी ईश्वर के प्रति अश्रद्धा प्रदर्शित नहीं की।

१८८२ ई० की ११ अप्रेल को उनका देहावसान हुआ। इङ्गलेंड के श्रेष्ठ वैज्ञानिक आइजक न्यूटन की समाधि के पास ही उनकी अन्त्येष्ठी क्रिया सम्पन्न हुई। डारविन को विवर्त्तनवाद का जनक नहीं कहा जा सकता, किन्तु इस मतवाद को युक्तियों एवं प्रमाणों द्वारा सुप्रतिष्ठित करने का श्रेय उन्हें ही प्राप्त है। आज केवल जीव-विज्ञान मे ही नहीं ज्योति-विज्ञान में भी विवर्तन का समर्थन किया जा रहा है। ग्रह नक्षत्रों में भी क्रम विकास होता है। भौतिक विज्ञान हमें बताता है कि जिन्हें हम जड़ पदार्थ समझते हैं उनमें भी रूपान्तर होता रहता है। मानव-सभ्यता की अग्रगति क्रम विकास के रूप में ही हो रही है। इस प्रकार सब कुछ परिवर्तनशील है। क्रम विकास द्वारा उनमें रूपान्तर होता रहता है। यही विवर्त्तनवाद का मूल सिद्धान्त है।

६

कार्ल मार्क्स्

सन् १९१७ में रूस में जो राज्य-क्रान्ति हुई और जिसके परिणामस्वरूप वहाँ की जारशाही का अन्त तथा कम्युनिस्ट शासन की प्रतिष्ठा हुई, वह विश्व के इतिहास में एक युगान्तरकारी घटना थी। इस क्रान्ति के संघटक एवं उन्नायक थे महानेता लेनिन। किन्तु क्रान्ति के पीछे जिस व्यक्ति की वाणी काम कर रही थी वह था कार्ल मार्क्स्। कार्ल मार्क्स् एक साथ ही महान् चिन्तक एवं क्रान्तिकारी थे। आज जिसे वैज्ञानिक समाजवाद या साम्यवाद कहते हैं और जिस भावादर्श ने आधुनिक काल की सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक भावधारा पर सबसे बढ़ कर गहरा प्रभाव डाला है उसके जनक कार्ल मार्क्स् ही थे। कार्ल मार्क्स् के परवर्त्ती युग में विभिन्न देशों में जो राजनीतिक एवं आर्थिक आन्दोलन हुए हैं और हो रहे हैं उन सब पर किसी न किसी रूप में मार्क्स् की विचारधारा का अवश्य प्रभाव पड़ा है और पड़ रहा है। जिस समाज व्यवस्था के कारण कोटि-कोटि मनुष्य आजीवन दैन्य दारिद्रय पीड़ित रह कर क्रीतदास का जीवन व्यतीत कर रहे थे, उस समाज व्यवस्था में सुधार लाकर नहीं बल्कि आमूल परिवर्तन कर के एक नूतन मानव समाज का स्वप्न देखने

वाले विप्लवी कार्ल मार्क्स् को अपने जीवन में सहानुभूति की अपेक्षा विरोध एवं वैर का ही अधिक सामना करना पड़ा। प्राचीन व्यवस्था एवं रीति-नीति के प्रति ममताशील चिराभ्यस्त मानव मन सहज ही किसी नयी व्यवस्था की कल्पना नहीं कर सकता और न उसे ग्रहण करने के लिए तैयार हो सकता है। जिस निपीड़ित जनगण की मुक्ति के लिये इस महाप्राण व्यक्ति ने कठोर आत्मत्याग एवं कष्ठ सहन स्वीकार करके अपने आदर्श की वेदी पर अपने हृत्पिंड के एक-एक रक्तबिन्दु को अर्पित कर दिया उसे जीवन में कितनी अवहेलना एवं लांछना सहन करनी पड़ी। फिर भी आदर्श की साधना अखण्ड रूप में चलती रही। सारे संसार के दीन दरिद्र शोषित जनगण के लिए असीम वेदना हृदय में धारण करके कार्ल मार्क्स् सम्पूर्ण प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच अपने आदर्श की जययात्रा का स्वप्न देखते रहे और उसके लिए अनवरत संग्राम करते रहे।

कार्ल मार्क्स् का जन्म १८१८ ई० की पाँचवी मई को जरमनी के राइमलैंड प्रदेश में हुआ था। उनके पिता एक यहूदी वकील थे। जिस समय कार्ल मार्क्स् की अवस्था ६ वर्ष की थी उनका सारा परिवार ईसाई धर्म में दीक्षित हो गया। हालांकि इस धर्म परिवर्त्तन का कोई भी प्रभाव कार्ल मार्क्स् के व्यक्तित्व के विकास पर नहीं पड़ा। बाल्यकाल से ही इनमें कुछ ऐसे लक्षण देखे जाने लगे जिनसे इनके स्वाधीन चेता तथा आत्म प्रत्यय शीला होने का आभास मिलने लगा। इनके चरित्र में एक अनमनीय दृढ़ता एवं विद्रोही सुलभ निष्ठुरता थी। अपने इन गुणों के कारण ही आगे चल कर ये बदलती हुई दुनिया में एक प्रचंड शक्ति सम्पन्न व्यक्तित्व के रूप में आविर्भूत हुए।

१७ वर्ष की अवस्था में कार्ल बान विश्वविद्यालय में कानून के विद्यार्थी थे। दूसरे वर्ष वहाँ से बर्लिन विश्वविद्यालय में चले गये। यहीं एक सम्भ्रान्त वंश के धनी व्यक्ति की कन्या जेनी के साथ इनका प्रेम हो गया। अठारह वर्षीय मध्य वर्ग के युवक ने साहस करके जेनी

के पिता को एक पत्र लिखा। पिता की इच्छा न रहने पर भी कन्या ने विवाह के प्रस्ताव का हार्दिक समर्थन किया।

इस प्रणय व्यापार का एक उल्लेखनीय परिणाम यह हुआ कि कार्ल कवि बन गए। जेनी को लक्ष्य कर के वे बहुत सी स्वरचित प्रेम कविताएँ उसके पास भेजते रहे। उनकी कुछ कविताएँ प्रकाशित भी हुई थीं। इस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में वज्रनिर्घोष करने वाले व्यक्ति ने एक भावुक कवि के रूप में सर्वप्रथम अपने को प्रकाशित किया।

१८४१ में मार्कस् को विश्वविद्यालय से दर्शनाचार्य की उपाधि मिली। बान में ये ब्रूणो बावर तथा हेगेल के दार्शनिक मतवाद के समर्थक कतिपय युवकों की संगति में आए। ये सबके सब बाइबिल के धर्म सिद्धान्तों के समालोचक थे। इसी समय मार्कस् ने निश्चित रूप से धर्म-विरोधी मनोभाव ग्रहण किया जो आगे चल कर उनके मतवाद का एक अनिवार्य अङ्ग बन गया। यहाँ इनके साथियों ने एक दैनिक पत्र निकाला जिसमें उग्र विचारों का प्रतिपादन किया जाता था। मार्कस् नियमित रूप से इस पत्र में लिखने लगे। उनके तीव्र लेखों से पत्र की ख्याति बहुत बढ़ गयी और कुछ ही महीने के बाद वे पत्र के संपादक हो गये। अब वे प्रसिया की सरकार तथा बावर जैसे दार्शनिकों के विरुद्ध,जो किसी समय उनके मित्रों में से थे, किन्तु जिसे वे अब एक कल्पनाविलासी क्रांतिकारी बता कर उसकी निन्दा करने लगे थे, रोष पूर्ण लेख लिखने लगे। एक संपादक के रूप में उनका यह यशस्वी जीवन अल्पकालीन सिद्ध हुआ, क्योंकि सेंसर द्वारा पत्र का प्रकाशन बन्द कर दिया गया। इसके बाद पेरिस से एक दूसरा पत्र निकालने का विचार किया गया। इसके लिये तैयारियाँ होने लगीं। इसी बीच मार्कस् ने जेनी के साथ विवाह कार्य संपन्न कर लिया। अपने मित्र रूज को जो अखबार निकालने की तैयारी में लगा हुआ था, मार्कस ने लिखा—"बिना किसी भावुकता के मैं तुमको सूचित करता हूँ कि मैं वस्तुतः प्रेम में पड़ा हुआ हूँ। मेरी प्रेमिका को और मुझे वर्षों तक इस

प्रणय-सम्बन्ध के लिये संग्राम करना पड़ा है।"

पेरिस से पत्र निकालने का विचार कार्यान्वित नहीं हो सका। इसलिए मार्कस् ने पेरिस से प्रकाशित होने वाले एक जरमन उग्र पंथ पत्र में लिखना शुरू किया। इस बार भी उसके कटुतापूर्ण लेखों को सरकार सहन नहीं कर सकी और मार्कस् पेरिस से बहिष्कृत कर दिये गये। १८४५ के जनवरी में वे पेरिस छोड़ कर ब्रुसल्स चले आये।

फ्रान्स छोड़ने के पहले उनके जीवन में एक ऐसी घटना घटी जिसका स्थायी प्रभाव उनके भावी जीवन पर पड़ा। फ्रेडरिक एनजिल्स के साथ उनकी घनिष्ट मैत्री हो गयी। एनजिल्स भी उग्र विचार के एक युवक थे और मार्कस् से दो वर्ष छोटे थे। दोनों के बीच जो मैत्री सम्बन्ध स्थापित हुआ वह आजीवन कायम रहा। एनजिल्स मार्कस् के मित्र, शिष्य, सहकर्मी, वेतन भोगी लेखक और सब से बढ़ कर उनके आर्थिक सहायक अन्त तक बने रहे।

१८४५ के वसन्त में एनजिल्स मार्कस् से ब्रुसल्स में मिले और उसी वर्ष ग्रीष्म में उनको साथ लेकर लन्दन गये। एनजिल्स ने लन्दन में मार्कस् को जरमन श्रमजीवी शिक्षण संघ नामक संस्था से परिचित कराया जिसकी स्थापना कुछ ही समय पहले हुई थी। मार्कस् लन्दन से लौट कर जब ब्रुसल्स आये उन्होंने उसी प्रकार की एक संस्था जरमन श्रमजीवी संघ नाम से स्थापित की। इस संस्था का उद्देश्य था साम्यवाद के सिद्धान्तों का अध्ययन एवं प्रचार करना। फिर मार्कस् ने विभिन्न देशों के साम्यवादियों को एकत्र करने के लिये एक कम्युनिस्ट पत्राचार कमेटी कायम की। इसी प्रकार का एक कर्मकेन्द्र स्थापित करने के लिये एनजिल्स पेरिस भेजे गये। १८४७ में लन्दन में एक सम्मेलन हुआ जिसमें लन्दन पेरिस और ब्रुसल्स के साम्यवादी प्रतिनिधि शामिल हुए। इसके परिणामस्वरूप एक अन्तर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट लीग का संगठन किया गया जिसकी ओर से मार्कस् और एनजिल्स ने विश्वविख्यात कम्युनिस्ट घोषणापत्र (कम्युनिस्ट मैनिफैस्टो)

प्रकाशित किया। कम्युनिस्ट मैनिफैस्टो का प्रथम अध्याय इस रूप में आरम्भ होता है :

"अब तक जितने समाज हुए हैं उन सब का इतिहास विभिन्न वर्गों के बीच संग्राम का इतिहास है।" मार्क्स् का दर्शन इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या है। समाज में विभिन्न वर्गों की सृष्टि में जो मूल कारण काम करता है वह है आर्थिक कारण। धनोत्पादन की प्रणालियों मे जो आवश्यक परिवर्तन होते रहते हैं उन्हीं का सामाजिक प्रतिपालन हमे समाज के अन्दर श्रेणी-संग्राम में देखने को मिलता है। धनिक वर्ग श्रम के खरीदार के विकास ने अनिवार्य रूप में एक सर्वहारा वर्ग की सृष्टि कर दी जिसके पास अपने को बेचने के सिवा और कुछ नहीं होता। धनिक वर्ग की आर्थिक शक्ति ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है त्यों-त्यों उसकी संख्या कम होती जाती है और वह अधिकाधिक रूप में श्रमजीवियों का दमन करने लगता है। इस दमन के फलस्वरूप सर्वहारा दल का सामाजिक जीवन संघबद्ध और अनुशासित होता है, वह अपने जीवन का एक ध्येय निश्चित करता है। अन्ततः, धनतांत्रिक राज्य के सामाजिक संगठन को चूर्ण-विचूर्ण करके एक नये राज्य का निर्माण करता है जो उत्पादन की नयी शक्तियों के प्रयोजनों को पूर्ति कर सके। कम्युनिस्ट सर्वहारा वर्ग के समाज सचेतन विभाग है—जनगण का वह भाग जो यह समझता है कि धनिक श्रेणी से श्रमजीवी श्रेणी के स्वार्थ भिन्न हैं; और उनका कार्य किसी देश विशेष तक सीमित न रह कर अन्तर्राष्ट्रीय है।

तत्कालिक सुधार के रूप में कम्युनिस्ट मैनिफैस्टो में निम्नलिखित माँगें पेश की गई थी— भूसंपत्ति पर राज्य का अधिकार, उसमें लगान से शासन व्यय चलाया जाये; आय के क्रमानुसार आय कर; संपत्ति पर उत्तराधिकारी के स्वत्व का लोप; विदेशियों और विद्रोहियों की संपत्ति का समपहरण; साख और परिवहन का केन्द्रीकरण तथा राज्य द्वारा परिचालन, स्टेट बैंक की स्थापना जिसका रुपये के लेन-देन पर एका-

धिपत्य हो; कल कारखानों पर राज्य का क्रमवर्धमान स्वामित्व और कृषि भूमि का पुन: वितरण; सबके लिए श्रम करना अनिवार्य, खेती के लिए मजदूर सेना की भर्ती; कृषि और उद्योग से संलग्न श्रमजीवियों का एकीकरण; सब बच्चों के लिए सार्वजनिक शिक्षा तथा कारखानों में बच्चों की श्रमजीवी के रूप में भर्ती करने पर निषेध। उपसंहार में कहा गया है : "कम्युनिस्ट अपने मत और अभिप्राय: को छिपाना अनावश्यक समझते हैं। वे स्पष्ट रूप से यह घोषित करते हैं कि उनका उद्देश्य समसामयिक सामाजिक व्यवस्था को हिंसात्मक उपायों द्वारा उलट देने से ही सिद्ध हो सकता है।"

इस हिंसात्मक क्रान्ति में सर्वहारा को अपनी जंजीरों के सिवा और कुछ नहीं खोना है। लाभ में उन्हें सारी दुनिया प्राप्त होगी।

"सब देशों के श्रमजीवी एक हो जायँ।"

१८४८ में यूरोप के कई देशों में क्रान्ति के स्फुलिंग दिखाई पड़े। मार्क्स् को बेलजियम छोड़ देने का आदेश मिला। वहाँ से पेरिस आए। १८४९ के जुलाई महीने में फरांसीसी सरकार ने मार्क्स् को एक अस्वास्थ्यकर स्थान में निर्वासित कर दिया। वहाँ जाने की अपेक्षा उन्होंने लंदन जाना पसंद किया। इसके बाद उनके जीवन का शेषांश लंदन में ही व्यतीत हुआ। इस समय उनकी दरिद्रता चरम सीमा पर पहुँच गई थी। दरिद्रता के विरुद्ध उन्हें भीषण संग्राम करना पड़ा। उनकी गृहस्थी में स्नेहा शीला स्त्री स्नेह प्रवण बच्चे, विश्वस्त धाई थी, किन्तु पास में पैसे नहीं थे और न आय का कोई साधन था। एक ओर जीवन के आदर्श की साधना का व्रत और दूसरी ओर दारिद्रय की ताड़ना। विधि की विडम्बना तो देखिये कि जो व्यक्ति कोटि-कोटि अकिञ्चन मनुष्यों के जीवन को अन्न वस्त्र की चिन्ता से मुक्त करने में संलग्न रहता था उसे ही अपने जीवन के प्रतिक्षण में दरिद्रता से संग्राम करना पड़ता था। अवस्था यहाँ तक पहुँच गयी कि जिस मकान में रहते उसका भाड़ा नहीं चुका सके और मकान मालिक ने मकान से निकाल दिया। फिर अन्यत्र दो कमरे

लेकर रहने लगे। दरिद्रता के कारण स्वास्थ्य भंग हो गया। दो बच्चे शैशवा वस्था में ही काल कवलित हो गये। मार्क्स् स्वयं भी कई रोगों से पीड़ित रहने लगे। किन्तु इतने पर भी मार्क्स् अपने ग्रन्थ "कैपिटल" के प्रकाशन और धार्मिक आन्दोलन के परिचालन के लिये आवश्यक अर्थ सग्रह करने में यत्नशील थे। इस आर्थिक संकट काल में मार्क्स् अपने मित्र एनजिल्स की उदारता की बदौलत ही जीवन धारण करने मे समर्थ हुए थे। एनजिल्स बराबर मार्क्स् को रुपये भेजते रहे। उन्हे यहाँ तक छूट दे रक्खी थी कि वे खर्च करके उनके नाम से देयक (बिल) भेज दें। एनजिल्स ने केवल धन से ही नहीं बल्कि अखबारों के लिए लेख लिखने तथा उनके जरमन लेखों का अंग्रेजी में अनुवाद करने मे भी उन्हें सहायता पहुँचाई।१८५१ ई० की २० मई को मार्क्स् ने अपनी पत्नी को जो पत्र लिखा था उसमें उनके उस समय के निर्वासित जीवन का बड़ा ही करुण चित्र फूट पड़ा है। उस समय उनकी पत्नी अमेरिका में थी।

अपनी इस अभावग्रस्त अवस्था में ही मार्क्स् ने एक पत्र निकालने का आयोजन किया। इस से उनको सर्वस्वान्त हो गया। इस समय उनकी दरिद्रता किस सीमा पर पहुँच गई थी इसका परिचय नीचे के दृष्टान्त से मिलेगा। उनके पहनने का एक मात्र कोट था जिसे निरुपाय हो कर उन्हें एक बन्धं की दूकान में बन्धक रख देना पड़ा। कोट बन्धक रख कर जो धन मिला उससे अपनी पुस्तिका व। कागज खरीदा। इस समय मार्क्स् ब्रिटिश म्यूजियम में बैठ कर पुस्तकों के अध्ययन में व्यस्त रहते। प्रतिदिन घंटों तक यही कार्य क्रम चलता रहता। प्रशस्त मुखमंडल, तनी हुई भौंहें, झाड़ीदार डाढ़ी बिना संवारे हुए रूखे सूखे बाल किन्तु कार्य साधन का दृढ़ संकल्प। इस रूप में ही प्रति दिन वहाँ पहुँचते और शाम होने पर अध्ययन समाप्त कर के नोट की हुई कापियों के साथ घर लौट जाते। घर पहुँचते ही उनका रूप बदल जाता। एक सहृदय पिता के रूप में बच्चों

के साथ खेलने लगते। पत्नी और बच्चे बड़े प्रेम से उनका अभिवादन करते। यहाँ आकर वे अपने काम को एक बारगी भूल जाते और एक सुखी पिता बन जाते। बहुधा ऐसा होता कि घर में न तो कोई खाद्य-पदार्थ होता और न पैसे ही होते। ऐसी अवस्था में यह धीरमना व्यक्ति चुपके से बन्धक रखने वालों की दुकानों पर चला जाता और अपनी स्त्री का कोई साधारण आभूषण या उसके मैके की दी हुई कोई चीज बन्धक रख कर खाद्य-पदार्थ खरीद लाता। बन्धक रखने को जब कोई चीज नहीं होती तब निराश होकर किसी से कुछ पैसे उधार लेने की चेष्टा की जाती। किन्तु जिस दिन खाने की चीजें घर में होतीं उस दिन सध्या के समय बच्चों से बातें करते, परिचरिका के साथ शतरन्ज खेलते तथा दिन में लिये गए नोट को क्रमबद्ध रूप में रखते। फिर रात्रि में शयन और दूसरे दिन सूर्यन्ति तक म्यूजियम में कठोर परिश्रम करते। कठोर अध्यवसाय के साथ उन्होंने बहुत से ग्रन्थों का अध्ययन किया और अपने मतवाद को पूर्णता एवं परिपुष्टि प्रदान की।

१८५१ से १८६० ई० तक वे "न्यूयार्क ट्रिबिउनल" के नियमित लेखक रहे। उन्हें प्रत्येक लेख के लिये दस शिलिंग मिला करता था। इससे घर का भाड़ा, अखबार और डाक का खर्च किसी प्रकार चल जाता था। इस समय राजनीति विषय पर उनके कितने ही निबन्ध प्रकाशित हुए। १८५७ में उनके विख्यात ग्रन्थ कैपिटल का प्रथम भाग प्रकाशित हुआ। द्वितीय एवं तृतीय भाग उनकी मृत्यू के बाद उनके जीवन साथी एनजिल्स ने १८८५ और १८९४ में संपादित करके प्रकाशित किये। कैपिटल में मार्क्स् ने अतिरिक्त मूल्य (Surplus cost) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इसका अर्थ यह था कि एक श्रमजीवी को भरण-पोषण के लिये जितने समय तक काम करना आवश्यक है और जितने समय तक वह काम करता है, दोनों में जो अन्तर समय का है उस समय का अतिरिक्त मूल्य। जैसे किसी आदमी को प्रतिदिन पाँच शिलिंग मजदूरी मिलती है और पाँच शिलिंग का

काम वह चार घण्टे में कर दे सकता है, किन्तु वह आठ घण्टे तक काम करता है। यह जो फाजिल चार घन्टे वह काम करता है और उत्पादन करता है उसके इस श्रम का जो मूल्य है वही अतिरिक्त मूल्य है।

श्रमजीवी को अपने उत्पादन पर अधिकार नहीं होता, किन्तु सम्पूर्ण श्रमजीवी वर्ग को अपने सहयोग मूलक उत्पादन पर सामाजिक अधिकार होता है। सर्वहारा को पूंजीवाद के सामाजिक ढाँचे को चूर्ण-विचूर्ण कर देने की आवश्यकता महसूस करनी होगी, इसके बाद ही सर्वहारा का अधिनायक तन्त्र कायम होगा, किन्तु यह संक्रान्ति काल के लिए ही होगा, क्योंकि समाज तान्त्रिक दुनिया में शोषक वर्ग के लिए कोई आर्थिक आधार नहीं रह जाता, वर्ग संघर्ष और वर्गभेद मिटने लग जाते है और उसका आरम्भ सर्वहारा वर्ग के अधिनायक तन्त्र से होता है, वह कार्यत:एक श्रेणीहीन सरकार बन जाता है। आगे चल कर यह सरकार भी इस अर्थ में सरकार नहीं रह जाती कि वह मनुष्यों पर शासन करे। उसका काम शासन करना कम और नियन्त्रण करना अधिक होता है। इस प्रकार की दुनिया में पुराने अर्थ में राज्य अपनी सेनाओं और कारागारों के साथ "क्षीण होने" लग जाते हैं। यही मार्क्सवाद है और यही उसका मतवाद है जिसकी प्रतिष्ठा उसकी रचनाओं पर की गई है। इसी मतवाद से अनुप्राणित होकर लेनिन तथा उसके अन्य विप्लवी सहकर्मियों ने रूस में क्रान्ति की वह्निशिखा प्रज्वलित की और उसे सफल बनाया।

जिस समय मार्क्स "कैपिटल" के दूसरे भाग की रचना को लेकर व्यस्त थे उनकी आर्थिक दशा कुछ अच्छी हो चली थी। लंदन शहर के ऊपरी भाग में अब वह आराम से रहने लग गये थे। १८६९ में ऐंजिल्स ने अपने कारबार से निवृत्ति ग्रहण की और मार्क्स को वार्षिक ३५० पौंड देने लगे। इसी समय परिवार के उत्तराधिकार सूत्र से मार्क्स को आठ सौ पौंड मिले। किन्तु कठिन परिश्रम करते-करते

उनका स्वास्थ्य नष्ट हो चुका था। १८८१ में उनकी जीवन संगिनी ने वर्षों तक कैन्सर रोग भुगतने के बाद अपनी इहलीला संवरण की। मार्क्स उस समय फेफड़े के रोग से ग्रस्त होकर बिछावन पर पड़े हुए थे। कुछ अच्छे होने पर वे थोड़े ही दिन जीवित रह सके। १८८३ ई० की१४ वीं मार्च को लन्दन में उनकी मृत्यु हुई।

उनकी समाधि पर एनजिल्स ने भाषण करते हुए कहा था—"मार्क्स् का नाम और उनकी कृतियाँ शताब्दियों तक अमर रहेंगी। रविवार के दिन अपने परिवार के लोगों के बीच तथा मित्र-मंडली में मार्क्स् प्रफुल्ल एवं हास्योज्वल रहा करते थे। उनमें रसबोध पर्याप्त मात्रा में था। कोई हास्य रसात्मक उक्ति सुनकर उनके घन कृष्ण नेत्र युगल ज्योतिर्मय हो उठते थे। अन्तः करण बड़ा कोमल था। बच्चों के प्रति उनका व्यवहार बराबर मृदु एवं कोमल होता था। उन्हें शान्ति देना पसंद नहीं करते थे। उनकी पत्नी सच्चे अर्थ में उनकी जीवनसंगिनी थी। सब कामों में उनकी सहायता किया करती थीं। स्वयं एक कुलीन एवं धनी परिवार की कन्या होने पर भी पति गृह में दारिद्रय की ताड़ना सहन करते हुए वह कभी अधीर नहीं हुई। प्रसन्न भाव से उसने सब कुछ सहन कर लिया जिससे पति की आदर्श साधना में व्याधा नहीं पहुँचे। अपनी प्रकृति की निर्मलता एवं निश्छलता द्वारा वह अपने पति के मित्रों एवं अनुचरों को बराबर प्रसन्न रक्खा करती थी। मार्क्स् को अपनी पत्नी की विचार बुद्धि और उसकी सूझ-बूझ पर अगाध श्रद्धा थी। अपनी समस्त रचनाओं की पाण्डुलिपियाँ वह अपनी पत्नी को सौंप देते थे और उसके मत को पूर्ण महत्त्व प्रदान करते थे।

साठ वर्ष की अवस्था में उन्हें सुख भोग करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। किन्तु इसके बाद वे बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सके। उनके जीवन का सबसे बढ़कर मूल्यवान समय था १८३७ से १८४७ और १८५७ से १८७१ ई० तक। इस अवधि में ही उन्होंने

अपने मूल्यवान ग्रन्थों की रचना की तथा अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य संपन्न किये। उनकी रचनाओं में मुख्य हैं "पमार्टी आफ् फिलासफी, कम्युनिस्ट मैनिफस्टो, कैपिटल तथा पेरिस कम्यून।" इनमें सर्वाधिक प्रचार "कैपिटल" ग्रन्थ का हुआ।

१०

निट्शे

अतीत के प्रति मनुष्य में एक स्वाभाविक मोह होता है। अधि-कांश मनुष्य प्राचीनता की दोहाई देकर पुराने आदर्शों से चिपके रहना चाहते हैं। जो आदर्श जीर्ण हो चुके है, वर्तमान युग में जिनकी कोई सार्थकता नहीं है, जो हमारे मन प्राण को शृङ्खलित बनाये हुए हैं उन्हें अपने कन्धों पर भार स्वरूप ढोते रहने में हम अपना कल्याण समझते हैं। धर्म और अधर्म, पाप और पुण्य, सुनीति और दुर्नीति, सद् और असद् के सम्बन्ध में जो सब नियम-आदर्श प्राचीन काल से चले आ रहे हैं उनके प्रति अन्ध श्रद्धा रहते हुए हम उनकी पूजा करते हैं, भले ही यह श्रद्धा हमारी बन्धन मुक्ति के मार्ग में बाधक सिद्ध हो। बचपन से ही बालक-बालिकाओं को अपने माता-पिता, अभिभावक और शिक्षकों से जिस प्रकार की शिक्षा मिलती है उससे प्राचीन आदर्शों और नीति नियमों के प्रति उनके मन में कुछ इस प्रकार की धारणाएँ बद्धमूल हो जाती हैं जिनका सत्य के साथ बहुत कम सम्बन्ध होता है। इस प्रकार की धारणाएँ मनुष्य की आत्मा को अतीत के कारागार में आबद्ध कर देती हैं, उसके प्राणों का स्वतः स्फूर्त विकास अवरुद्ध हो जाता है और उसका मन युग के अनुकूल किसी नूतन आदर्श को ग्रहण करने में भयग्रस्त हो उठता है। प्राचीन युग के मन को लेकर वह

नूतन युग की समस्याओं पर विचार करता है जिससे उसे परम्परागत आदर्शों के अनुशासन से बाहर और कहीं सत्य दिखाई नहीं पड़ता। इस प्रकार जब धर्मशास्त्रों, नीति ग्रन्थों और परम्परागत आदर्शों के अनुशासन में अन्ध श्रद्धाभाव धारण कर के मनुष्य अपने प्राणों की सहज गतिशीलता खो बैठता है उस अवस्था में उसकी मनःस्थिति दयनीय हो जाती है। वह उन आदर्शों के दुर्वह भार को वहन करते करते प्राणहीन जड़ पिण्ड के रूप में परिणत हो जाता है। इसलिये अतीत के जिन मनीषियों, चिन्तावीरों और उनके द्वारा प्रचलित आदर्शों के स्मारक खड़ा करके तुम उनकी पूजा करने में अपना गौरव समझते हो उनसे सावधान हो जाओ। इन स्मारकों के भार के नीचे दब कर प्राणहीन मत बन जाना। जो प्रगति पथ के पथिक होते हैं वे अपने लिए अपना मार्ग स्वयं प्रशस्त करते है। अपनी विवेक बुद्धि, अपने अन्तर के आलोक में अपने मार्ग का संधान पा कर वे अज्ञान अदृश्य की ओर चल पडते हैं—बाधाविघ्नों की अतिक्रमण करते हुए और पथ के काँटों को रौंदते हुए। किसी नूतन आदर्श की अदम्य प्रेरणा जब उनके मन में जाग उठती है तब प्राचीनता का मोह और शास्त्रों के निधि निषेध उन्हें बाँध कर नहीं रख सकते। जीवन की दुःसाहसिक जय यात्रा जब आरम्भ होती है उस समय प्राचीन आदर्शों की शृङ्खलाएँ एक-एक विच्छिन्न होने लगती हैं और नूतन आदर्श की ज्योति से दिग दिगन्त ज्योतिमय हो उठता है। इसलिये नूतन के स्रष्टा को पुरातन का संहार-कर्ता बनना पड़ेगा और तरङ्ग संकुल अकूल सागर में अपने जीवन की नौका को तरंगों के आघात सहन करने के लिये छोड़ देना होगा। ऐसे अभिमानी वीर ही मनुष्यत्व के उत्तुङ्ग शिखर पर समासीन होकर साधारण जनों से ऊपर, बहुत ऊपर उठ जाते हैं और युग-युग तक अति मानव के रूप में वन्दित होते हैं। अतिमानव बनने की यह अग्निवाण-जिस व्यक्ति के कण्ठ से उद्घोषित हुई थी वह व्यक्ति था फ्रेडरिक निट्शे।

बिसमार्क ने जिस नूतन जरमन साम्राज्य की प्रतिष्ठा की थी वह शक्ति का प्रतीक था। बिसमार्क शक्ति का उपासक था। एक ओर सैनिक पराक्रम और दूसरी ओर प्रचण्ड औद्योगिक प्रगति। दोनों दृष्टियों से जिस शक्तिशाली जरमन साम्राज्य का उसने निर्माण किया था उसे एक ऐसे कण्ठ की आवश्यकता थी जो कण्ठ उसकी वाणी को वज्र निर्घोष स्वर में सुना सके। राष्ट्रों के आपसी झगड़े युद्ध से ही सुलझ सकते हैं वोट और आवेगपूर्ण ललित भाषणों से नहीं, इस मतवाद के औचित्य का प्रतिपादन करने के लिए एक दर्शन की आवश्यकता थी। ईसाई धर्म के द्वारा इसका औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता था। जरमनी को शक्ति मानव का यह नया दर्शन दिया निट्शे की वाणी ने।

निट्शे का जन्म सन् १८४४ ई० की १५वीं अक्तूबर को प्रसिया के अन्तर्गत रोकेन में हुआ था। प्रसिया के तत्कालीन राजा फ्रेडरिक विलियम चतुर्थ का जन्म दिवस भी इसी तारीख को पड़ता था। निट्शे के पिता राजघराने के कई राजकुमारों को पढ़ा चुके थे। इस लिए उन्हें इस बात से प्रसन्नता हुई कि उनके पुत्र का जन्म राजा के जन्मदिवस पर हुआ था। उन्होंने अपने पुत्र का नाम फ्रेडरिक रखा जो राजा का नाम था। निट्शे के बचपन में ही उनके पिता की मृत्यु हो गयी। उनका पालन-पोषण घर की स्त्रियों की देख-रेख में हुआ। अत्यधिक लाड़-प्यार के कारण निट्शे के स्वभाव में स्त्रियोचित कोमलता एवं संवेदनशीलता आ गयी। पड़ोस के जो लड़के मिथ्या भाषण करते थे, घोंसलों से पक्षी शावक चुराते थे, उद्यानों के फल तोड़ते थे और सैनिक वेश धारण करके खेलते थे। निट्शे उनसे अपने को दूर रखते थे। उनकी इस शान्त निरीह प्रकृति के कारण उनके साथी उन्हें "छोटा पादरी" कहा करते थे। निट्शे एकान्त में बैठ कर बाइबिल पढ़ा करते। दूसरों को पढ़ कर सुनाते समय वे इतने भावावेश में आ जाते कि सुनने वालों की आँखों में बरबस आँसू छलक पड़ते। बाइबिल की एक कहानी की सत्यता पर जब उनके सहपाठियों ने सन्देह प्रकट किया तब उन्होंने

दियासलाई की लकड़ियों को जला कर अपनी मुट्ठी में रख लिया और उन्हें तब तक रखे रहे जब तक कि वे पूरी तरह जल कर निःशेष नहीं हो गए। यह घटना इस बात की द्योतक थी कि निट्शे आजीवन ऐसे शारीरिक एवं बौद्धिक साधनों का प्रयोग करते रहे जिनसे उनकी प्रकृति कठोर बन जाय और वह पुरुषोचित पौरुष से दृप्त हो उठे। उनका कहना था: "जो मैं नहीं हूं वही मेरे लिए ईश्वर और पुण्य है।"*

अठारह वर्ष की अवस्था में निट्शे को अपने पूर्वजों के ईश्वर पर विश्वास नहीं रह गया और उनका शेष जीवन एक नये देवता के सन्धान में व्यतीत हुआ। उनका खयाल था कि अतिमानव के रूप मे उन्हें यह देवता मिल गया है। किन्तु इस प्रकार ईश्वरविद्रोही बन जाने का परिणाम यह हुआ कि उन्हें जीवन शून्य एवं निरर्थक प्रतीत होने लगा। अब वे अपने कालेज के कतिपय सहपाठियों के साथ निरन्तर सुरा, सुन्दरी एवं धूम्रपान में रत रहने लगे। किन्तु शीघ्र ही भोग-विलास से तीव्र वितृष्णा हो गयी और इसकी उग्र प्रतिक्रिया इस रूप में हुई कि वे मद्यपान और धूम्रपान करने वाले मनुष्यों को स्वच्छ दृष्टि लेकर किसी विषय पर विचार करने या सूक्ष्म चिन्तन करने में अक्षम समझने लगे।

इसी समय सन् १८६५ ई० के लगभग शापनहार की पुस्तक "वर्ल्ड ऐज विल ऐण्ड आइडिया" उनके हाथ लगी और उसके प्रत्येक शब्द को एक भूखे मनुष्य की तरह वे चट कर गए। इस पुस्तक का बहुत बड़ा प्रभाव उनके मन पर पड़ा और उन्हें ऐसा लगा कि इस पुस्तक के रूप में उन्हें एक ऐसा दर्पण मिल गया है जिसमें वह समस्त जगजीवन को देख रहे हैं और जिसमें उनकी निज की प्रकृति पूर्ण महिमा के साथ चित्रित हुई है। बाद में चल कर यद्यपि उन्होंने शापन-हार के निराशावादी दर्शन को क्षयिष्णु बता कर उसकी भर्त्सना की, किन्तु अन्तःकरण से वे एक असुखी मनुष्य बने रहे—एक ऐसा मनुष्य

---

* ह्वाट माई ऐम नॉट दैट फोर मी इज गॉड एण्ड भरचू।

जिसके शरीर का स्नायविक गठन ही मानो पीड़ा सहन करने के लिए हुआ था और जिसके दुःख को जीवन के आनन्द के रूप में वरेण्य समझना आत्म-वंचना के सिवा और कुछ नहीं था।

२३ वर्ष की अवस्था में निट्शे को अनिवार्य सैनिक सेवा में नियुक्त होना पड़ा। उन दिनों युद्धोन्मादता इतनी बढ़ी हुई थी कि दार्शनिकों का भी तोप की खुराक के रूप में स्वागत किया जाता था। निट्शे बहुत थोड़े समय तक ही सैनिक सेवा में रह सके। घोड़े की सवारी से गिर जाने के कारण वे घायल हो गये जिससे रंगरूट भरती करने वाले अफसर को मजबूर होकर उन्हें छोड़ देना पड़ा। सैनिक जीवन में अनुशासन की जो कठोरता होती है उससे निट्शे बहुत प्रभावित हुए और सैनिक की वे इस लिए पूजा करने लग गए कि स्वयं उनका स्वास्थ्य इस योग्य नहीं था कि वे सैनिक बन सकें।

सैनिक जीवन छोड़ कर उन्होंने एक भाषा-विज्ञानी के रूप में विश्वविद्यालय के जीवन में प्रवेश किया और सैनिक के बदले भाषा विज्ञान के आचार्य बने। २५ वर्ष की अवस्था में बेसली के विश्वविद्यालय में उन्हें अध्यापक का पद मिला। किन्तु इस प्रकार बैठ कर काम करते रहना उन्हें अच्छा नहीं लगा। इसी समय उनके मन में संगीत के प्रति प्रेम जाग उठा और वे वाद्य का अभ्यास करने लगे। निट्शे जहाँ रहते थे वहाँ से कुछ ही दूर पर विख्यात संगीतज्ञ वगेनर रहा करते थे। वगेनर के निमन्त्रण पर निट्शे कुछ समय तक उनके साथ रहे। इस महान् संगीत रचयिता के प्रभाव में आकर ही उन्होंने १८७२ ई० में अपनी सर्वप्रथम पुस्तक "दि बर्थ ऑफ् ट्रैजिडी आउट ऑफ् दि स्पीरिट ऑफ् म्यूजिक" की रचना की। वगेनर के प्रशंसक के रूप मे उन्होंने कई लेख लिखे और उसके व्यक्तित्व में उन्हें पुरुषोचित दृढ संकल्पता एवं साहस का मूर्त रूप दिखायी पड़ने लगा। किन्तु कुछ समय के बाद वगेनर के प्रति इस मनोभाव में परिवर्त्तन हो गया। उसके एक गीतिनाट्य को अभिनीत होते देख कर वे अत्यन्त विरक्त हो

उठे। विरक्ति का कारण था नाटक की भावुकता, रोमान्स और मानव अन्तःकरण की कोमलता जिसकी विजय वीरोचित भावना पर दिखलायी गयी थी।

निट्शे अब कला के क्षेत्र से विज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में आए। अपनी मनोविज्ञान की एक पुस्तक में उन्होंने कोमल भावनाओं और परंपरागत विश्वासों का विश्लेषण बड़ी निर्ममता के साथ किया है। इस पुस्तक को उन्होंने वगेनर के पास भेजा था। इसके बदले मे उन्हें वगेनर ने अपनी एक पुस्तक भेज दी। फिर दोनों में कभी पत्र-व्यवहार नहीं हुआ। इसी समय निट्शे, जबकि अपने जीवन के पूर्ण यौवन में थे, बीमार पड़े। शारीरिक और मानसिक दोनों ही दृष्टियों से उनका स्वास्थ्य भंग हो चुका था और क्रमशः वे मृत्यु की ओर अग्रसर हो रहे थे। निःशङ्क भाव से मृत्यु का सामना करते हुए उन्होंने अपनी बहन से कहा : "वादा करो कि जब मैं मरूँगा मेरे शवाधार के पास मेरे मित्रों के सिवा और कोई उत्कण्ठित जनसमूह नहीं होगा। मेरी समाधि के पास कोई धर्म-पुरोहित खड़ा होकर मिथ्या भाषण न कर सकेगा, जबकि उससे मैं अपनी रक्षा नहीं कर सकता। एक ईमानदार नास्तिक की तरह मुझे समाधिस्थ होने देना।" किन्तु अन्ततः इस कठिन रोग से वे मुक्त हुए और इसके बाद से ही वे जीवन और यौवन के, स्वास्थ्य और आनन्द के उपासक बन गये। अब उन्हें कटुता और पीड़ा में भी जीवन के माधुर्य की अनुभूति होने लगी। अब वह शान्ति के साथ सरल जीवन व्यतीत करने लगे। विश्वविद्यालय से पूर्व सेवा वेतन (पेन्सन) के रूप में जो कुछ मिलता था उससे ही निर्वाह हो जाता था। किन्तु एक स्वाभिमानी दार्शनिक का जीवन व्यतीत करते हुए भी वे एक मानवीय दुर्बलता के शिकार हुए बिना नहीं रहे। एक नारी के प्रति प्रेमासक्त हो उठे। प्रेम का प्रतिदान नहीं मिलने से निराशा हुई और इस निराशा की प्रतिक्रिया नारी विद्वेष के रूप में उनकी इस समय की रचनाओं में व्यक्त हुई।

निट्शे इटली छोड़ कर आल्पस् पर्वत के एक शिखर पर वास करने लगे। यहाँ उनका जीवन सर्वथा निस्संग था। अब उन्हे नर या नारी किसी से प्रेम नही रह गया था। यहीं उनके मन में अतिमानव की कल्पना जाग उठी जिससे उन्हें अपनी सर्वोत्तम पुस्तक की रचना की प्रेरणा मिली। उन्हें जोरोयास्टर के रूप में एक नया शिक्षक मिला, एक नूतन देवता—अतिमानव, एक नूतन धर्म। सन् १८८३ में 'दस स्पेक जराथूस्ट' पुस्तक की रचना हुई। स्वयं निट्शे को अपनी इस पुस्तक के सम्बन्ध में विश्वास था कि यह उनकी सर्वोत्तम कृति है। बाद में चल कर इसके सम्बन्ध में उन्होंने लिखा : "इसके साथ कवियों की चर्चा हम न करें; शक्ति का प्राचुर्य जैसा इस पुस्तक में है वैसा सम्भवतः और किसी रचना में नहीं। यदि प्रत्येक महान् आत्मा की भावना और उत्तमता को एक साथ एकत्र कर दिया जाये तो वह सब मिलकर भी जराथूस्ट के किसी एक प्रवचन की सृष्टि नहीं कर सकेगी।" अवश्य ही निट्शे के इस कथन में किञ्चित अतिरञ्जना है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उन्नीसवीं सदी की यह एक महान् कृति है। अपनी इस पुस्तक को छपाने में निट्शे को कठिनाई का सामना करना पड़ा। प्रकाशक ने पूरी पुस्तक को छापना अस्वीकार कर दिया। इस लिए स्वयं लेखक को प्रकाशन का व्यय देना पड़ा। पुस्तक की केवल चालीस प्रतियाँ बिकीं। किसी ने उसकी प्रशंसा नहीं की। इस समय निट्शे अपने को जैसा एकाकी अनुभव करने लगे वैसा शायद ही किसी ने किया हो।

तीस वर्ष का चिन्तनशील युवक जराथूस्ट पर्वत की चोटी से अवतरण करके जनसमूह के बीच उपदेश देने के लिए खड़ा होता है। किन्तु भीड़ उसके भाषण को न सुन कर झूलते हुए रस्से पर चलने वाले एक नट के तमाशे को देखने में अधिक दिलचस्पी लेती है। नट रस्से के ऊपर से नीचे जमीन पर गिर पड़ता है और उसकी मृत्यु हो जाती है। जराथूस्ट उसे अपने कन्धों पर उठा कर ले चलता है· "क्योंकि

तुमने एक खतरनाक पेशा अपनाया था इसलिए अपने हाथों से मैं तुम्हे दफनाऊँगा ।" जराथूस्ट उपदेश देता है "खतरनाक जीवन व्यतीत करो (लिव डैनजरस्ली) । ज्वालामुखी के समीप अपने नगर का निर्माण करो । अज्ञात सागर मे अपने जहाजों को भेजो । युद्ध की अवस्था मे जीवन धारण करो ।" जराथूस्ट जब पर्वत से नीचे उतरता है एक संन्यासी से उसका साक्षात् होता है । वह संन्यासी ईश्वर के विषय में चर्चा करता है । उसके चले जाने पर जराथूस्ट अपने आप से प्रश्न करता है : "क्या सचमुच यह सम्भव हो सकता है ? क्या इस वृद्ध साधु ने अपने वनवास में ईश्वर के मृत होने की बात नहीं सुनी है ? किन्तु अवश्य ही ईश्वर मृत हो चुका है, देवतागण भी मर चुके हैं ।"

और उस मृत ईश्वर के स्थान पर जिस नये ईश्वर की वह कल्पना करते है वह नया ईश्वर है अतिमानव । "मानव को अपने मानवत्व का अतिक्रमण करके अतिमानव बनना पड़ेगा मनुष्य सेतु बन कर रहेगा लक्ष्य बन कर नहीं इसमें उसकी क्या विशेषता है । मनुष्य में प्यार करने की बात यही है कि वह संक्रान्ति और ध्वंस है । मैं उन लोगो को प्यार करता हूँ जो विनाश प्राप्त होने के सिवा और किस तरह जिया जाता है यह जानते ही नहीं, क्योंकि इस कोटि के मनुष्य अपनी सीमा का अतिक्रमण करने वाले होते हैं । में घृणा करने वालों से प्रेम करता हूँ क्योंकि ये महान उपासक हैं । ये जीवन के अमर तट की ओर छूटने वाले इच्छा रूपी तीर हैं । मनुष्य के लिए वह समय आ गया है जबकि वह अपना लक्ष्य स्थिर कर ले । यह समय है जबकि मनुष्य अपनी उच्चतम आशा का बीजारोपण करे ।"

निट्शे अपने बन्धुगण को सम्बोधन करते हुए कहते हैं : "अपनी दृष्टि को पीछे की ओर नहीं सामने की ओर करो । अपने पूर्वजो की भूमि में तुम्हें स्थान नहीं मिलेगा । तुम्हारी सन्तति की भूमि ही तुम्हारी अपनी प्रियभूमि होगी । समुद्र के उस पार जो देश अभी तक अज्ञात हैं उनको ध्यान में रखकर अपनी जीवन नौका का पतवार चालित करो ।"

गुरु का गौरव इस बात में नहीं है कि उसका शिष्य उसकी छाया और प्रतिध्वनि बन कर रहे। इस लिये निट्शे गुरु शिष्य की परम्परा कायम करना नहीं चाहते। वह चाहते हैं प्रत्येक शिष्य में व्यक्तित्व का परिपूर्ण विकास। "दुनिया मेरे सम्बन्ध में मेरे मित्रों की बात न सुन कर मेरे शत्रुओं की बातें सुने, जैसा कि मैं स्वयं करता हूं। जो लोग मेरे जीवन की व्याख्या करें उनका तिरस्कार करो क्योंकि अपने जीवन की व्याख्या मैं स्वयं नहीं कर सकता। मैं किसी सिद्धान्त या सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा नहीं करूँगा। सब मनुष्यों को स्वतन्त्र भाव से विचार करने दो, जैसा कि मैंने किया है।" निट्शे गुरूडम के सर्वथा विरुद्ध थे। उनका कहना था कि यदि कोई शिष्य आजीवन शिष्य ही रह जाता है तो इससे उसके गुरु के गौरव में कुछ भी वृद्धि नहीं होती। सच्चा दानी मनुष्य वह है जो अपने शत्रुओं से प्रेम ही नहीं करे बल्कि अपने मित्रों से घृणा भी कर सके।

निट्शे की सीख थी; "मनुष्य केवल अच्छा ही नहीं बल्कि दुरन्त बने।" साधु जनों के प्रति उसके मन मे घृणा थी। क्योंकि कभी सत्य बात करने का साहस उनमें नहीं होता। उनका मन रुग्ण बना रहता है। ऐसे लोगों से समाज की जितनी हानि होती है उतनी हानि दुर्जनों से नहीं होती। क्योंकि समाज के ये शिष्य साधुगन ही पुरातन को शाश्वत बना कर रखना चाहते हैं और नूतन के आविर्भाव में बाधा उपस्थित करते हैं। जो प्राचीन है उसे लोगों की दृष्टि में आपात रमणीय और जो घृणा करने योग्य है उसे लोभनीय बना कर ये चिरकाल तक रखना चाहते हैं। इसलिये निट्शे बारम्बार अपने बन्धुओं को निर्देश करते हैं। मूर्तिभंजक बनो। प्राचीन आदेशों की प्रतिमाओं को तोड डालो। निष्ठुर बन कर इन आदेशों पर आघात करो। ऐसा करके ही नूतन के आविभाव के लिये पथ को निष्कण्टक बनाया जा सकता है। ऐसे दुःसाहसी वीर ही पथ सन्धानकर्त्ता एवं पथ निर्माता बनते है।

जो सृष्टि करना चाहते हैं उन्हें संहारकर्त्ता बनना ही पड़ेगा ।

निट्शे दो प्रकार की नैतिकता में विश्वास करते थे। एक वह नैतिकता जो दूसरों पर प्रभुत्व करने वालों की होती है, और दूसरी नैतिकता उस प्रभुत्व को मान कर चलने वाले जनसमूह की। पुरुषत्व, साहस, कर्मोद्यम और वीरता ये सब नैतिक गुण प्रभुओं में पाये जाते हैं। विनम्रता, निःस्वार्थता, अपने को असहाय समझना ये सब नैतिक गुण दासोचित हैं, जनसमूह की नैतिकता में प्रभुत्व और दुःसाहसिकता का स्थान शान्ति और सुरक्षा, शक्ति का स्थान धूर्तता, कठोरता का स्थान करुणा और उपक्रम का स्थान अनुकरण ग्रहण कर लेता है। जो शक्तिमानव होते हैं—जो प्रचण्ड पौरुष लेकर दूसरों पर प्रभुत्व करने के लिए जन्म ग्रहण करते हैं उनकी इच्छा का औचित्य स्वतः सिद्ध होता है। वहाँ अन्तःकरण करुणा या अनुभाव के लिए कोई स्थान नहीं होता। निट्शे के विचार से सारे यूरोप की नैतिकता ऐसे मानवीय मूल्यों पर आधारित थी जो जनसमूह के लिए ही लाभजनक हो सकते थे। यूरोप के सामने एक नये बौद्ध धर्म का खतरा उपस्थित हो रहा था। इसके निराकरण के लिए यह वाँछनीय है कि समाज में बलवानों के "असद्" गुण उतने ही आवश्यक समझे जायँ जितने आवश्यक दुर्बलों के "सद" गुण। कठोरता, हिंसा, भयंकरता और युद्ध उतने ही मूल्यवान् हैं जितने मूल्यवान् दयालुता और शान्ति। खतरा, हिंसा और निष्ठुर आवश्यकता के समय में ही महान् पुरुष उत्पन्न होते हैं। मनुष्य मे सर्वोत्तम गुण हैं दृढ़ इच्छा शक्ति, प्रभुत्व की लालसा और प्रबल मनोवेग। बिना प्रबल मनोवेग के मनुष्य महान् कार्य नहीं कर सकता। इसलिए जीवन संग्राम में योग्यतम के जीवित रहने की जो प्रक्रिया चल रही है उसके लिए लोभ, लालसा, विद्वेष यहाँ तक कि घृणा भी आवश्यक है।

जिस प्रकार नैतिकता दयालुता में नहीं वरन् शक्तिमत्ता में है, उसी प्रकार मानवीय प्रयत्नों का लक्ष्य सब मनुष्यों का उत्थान नहीं

बल्कि श्रेष्ठ और सबल व्यक्तियों का विकास होना चाहिये। "मानव जाति नहीं अतिमानव लक्ष्य है।" इस अतिमानव का निर्माण शक्ति, बुद्धि और अहंकार से हो सकता है। "सद् क्या है? साहसी बनना ही सद् है। मनुष्य में शक्तिशाली बनने की जो इच्छा है वही सद् है। दुर्बलता असद् है।" और अतिमानव बनने का मार्ग अभिजाततन्त्र है, गणतन्त्र नहीं। इस गणतन्त्र का उच्छेद करना होगा और इस दिशा में पहला कदम होगा ईसाई धर्म का नाश। गणतन्त्र का अर्थ होता है औसत मनुष्यों की पूजा और श्रेष्ठ मनुष्यों से घृणा। इसमें महान् पुरुष उत्पन्न नहीं हो सकते, कारण निर्वाचन के अपमान और अशिष्टताओं को वे किस प्रकार सहन करेंगे? क्या उनके गणतन्त्र में सम्भावना हो सकती है? ऐसी भूमि में अतिमानव किस प्रकार आविर्भूत हो सकते हैं? जराथूस्ट कहता है—"कुछ लोग मेरे जीवन के सिद्धान्त का प्रचार करते हैं और इसके साथ ही समानता का भी। समानता के इन प्रचारकों के साथ मेरा मेल नहीं हो सकता है। मेरे अन्तर का न्याय देवता कहता है, "सब मनुष्य एक समान नहीं हैं।"

निट्शे ने जिस आदर्श समाज की कल्पना की थी वह तीन वर्गों में विभक्त होगा—उत्पादक (किसान, मजदूर और व्यापारी), राज-कर्मचारी (मुल्की और फौजी), और शासक। शासक का काम होगा शासन करना, किन्तु वे दफ्तरों में काम नहीं करेंगे। शासक दार्शनिक-राजपुरुष होंगे, पदाधिकारी नहीं। वे सैनिक की तरह जीवन व्यतीत करेंगे, पूँजीपतियों की तरह नहीं।

निट्शे के ये विचार आज के गणतांत्रिक युग में हमें विलक्षण जैसे प्रतीत होते हैं। आज इन्हें कोई भी समझदार आदमी मानने के लिए तैयार नहीं होगा। किन्तु एक समय में निट्शे के मतवाद का जरमन जाति के युवकों पर प्रभूत प्रभाव पड़ा था। निट्शे के आदर्श ने जरमन जाति को एक नूतन मन्त्र, एक नयी दृष्टि प्रदान की थी। निट्शे की 'दस स्पेक जराथूस्ट' पुस्तक से प्रेरणा ग्रहण करके—जरमन जाति

शक्ति की पुजारी एवं शौर्य की उपासक बन गई थी। एक हाथ में पुस्तक और दूसरे हाथ में तलवार लेकर जरमन युवक दिग्विजय करने के लिए निकल पड़े थे। निट्शे के मतवाद से ही हिटलर को जातीय विशुद्धता, जरमन आर्य रक्त और शक्ति मानव की अनुप्रेरणा मिली थी और सम्पूर्ण जरमन जाति को उसने एक सामयिक जाति में परिणत कर दिया था। हिटलर का यह विश्वास कि जरमन जाति का मिशन यूरोप की अन्यान्य जातियों पर प्रभुत्व करना है, बहुत कुछ निट्शे के दर्शन का ही परिभाषा था।

निट्शे आजीवन अपने युग की नैतिक व्यवस्था के विरुद्ध संग्राम करते रहे। इस संग्राम की उग्रता ज्यों-ज्यों बढ़ती गयी उनके मस्तिष्क का सन्तुलन त्यों-त्यों ह्रासशील होता गया। अन्त मे इस संग्राम की कटुता यहां तक बढ़ गई कि वे शरीर और मन दोनों से रुग्न बन गये। नेत्रज्योति क्रमश. क्षीण से क्षीणतर होने लगी। उनकी कृतियों का जैसा सम्मान होना चाहिए वह भी नहीं हो रहा था। अन्त मे वे सर्वथा निराश हो उठे। उन्होंने लिखा—"मेरा समय अभी नही है, काम के बाद जो दिन आने वाला है वही मेरा है।" सन् १८८६ में मिरगी का दौरा हुआ। इस अवस्था में ही वृद्धा माता के साथ उनका अन्तिम मिलन हुआ। उसकी मृत्यु के बाद अपनी बहन के साथ कमरे में रहने लगे। इस समय तक मस्तिष्क सम्पूर्ण विकृत हो चुका था। जीवन के अन्तिम क्षणों में उनके मुँह से ये शब्द निकले थे "मैने भी कुछ अच्छी पुस्तकें लिखी हैं।" एक बार चेहरा खिल उठा और फिर चिरनिद्रा में लीन हो गये।

११

मैसरिक

एक बार बर्नार्ड से पूछा गया कि संयुक्त राष्ट्र यूरोप के राष्ट्रपति के पद के लिये वह किस व्यक्ति का नाम प्रस्ताव करना चाहेंगे, उन्होंने उत्तर दिया – "मैं केवल एक ही व्यक्ति को जानता हूँ। वह व्यक्ति है मैसरिक।"

यह मैसरिक कौन था ? सब विषयों में असामान्य प्रतिभा लेकर जिसने जन्म ग्रहण किया था और जो आधुनिक यूरोप के शिक्षा-जगत, विचार-जगत, समाज, साहित्य एवं दर्शन के क्षेत्र में अपनी उस प्रतिभा की छाप छोड़ गया है। नूतन चेक जाति के निर्माण में इस एक व्यक्ति ने अपनी बहुमुखी प्रतिभा द्वारा जितना किया उतना आज तक किसी भी देश के जननायक द्वारा संभव नहीं हुआ है।

मैसरिक का जीवन रोमान्स जैसा लगता है। आस्ट्रिया के सम्राट् की विराट जमींदारी में एक दास परिवार के गृह में जिस

बालक ने जन्म लिया था, उसका पिता गाड़ीवान था और माता दासी थी, वही आगे चलकर इतिहास में राष्ट्रपति मैसरिक के नाम से विश्व-विख्यात हुआ। स्नेहमयी माता दारिद्रय दुःख से आहत होकर भगवान् से प्रार्थना करती, मेरा पुत्र बड़ा हो कर निदारुण दुःख का कभी अनुभव नही करे। पुत्र के भविष्यत् के सम्बन्ध मे माता के मन में न मालूम कितनी कल्पनायें उठतीं! कितने रंगीन स्वप्न वह देखा करती! किन्तु गाड़ीवान की पत्नी उस गरीबिनी ने क्या कभी अपने मन में इतनी बड़ी कल्पना की होगी कि उसका पुत्र एक दिन आस्ट्रिया के सम्राट् को राजसिंहासन से च्युत करके प्राग के राजप्रासाद में चेकोस्लावाकिया के राष्ट्रपति का जीवन व्यतीत करेगा? स्वयं उस गाड़ीवान के पुत्र ने भी यह कल्पना नही की होगी कि व्यस्क हो कर वह एक स्वाधीन राष्ट्र का निर्माता उसका भाग्य विधाता और राष्ट्रपति होगा। किन्तु हमारा जीवन कभी-कभी कथा-कहानी से भी बढ़ कर विस्मयजनक प्रतीत होता है। जीवन की नाट्यशाला में न मालूम कितने प्रकार के चित्र-विचित्र अभिनय चलते रहते हैं।

बालक मैसरिक की जीवन-यात्रा का प्रारम्भ दुःसह दारिद्रय के कण्टक वन में हुआ। बचपन से ही दरिद्रय पूर्ण जीवन के अनेक कटु-तिक्त अनुभव होने लगे। गाड़ीवान पिता की उर्दी पोशाक जब फटी-पुरानी हो जाती तब माँ उसे किसी तरह काट-छाँट कर उससे पुत्र के लिये कपड़ा तैयार करती। धनी के लड़कों की पुरानी गरम पोशाक से बालक का जाड़े के दिनों में शीत-निवारण होता। किन्तु दरिद्रय के कटु अनुभव ही उसके भावी जीवन में उसके चरित्र-निर्माण में सहायक हुए। दरिद्र जीवन की उसने प्रत्यक्ष अभिज्ञता प्राप्त की। इसलिए उसके चरित्र का विकास एक विशाल महीरुह के रूप में हुआ जिसकी जड़ मिट्टी में मजबूती के साथ जमी हुई थी। पिता को अपने मालिक की अनुमति की याचना करनी पड़ी बालक को गांव के स्कूल में भरती कराने के लिये। किन्तु यह शिक्षा भी कुछ ही दिनों तक चल सकी।

गाँव में ही लोहार का एक कारखाना था, उसी में हथौड़ा लेकर नेहाई पर चोट लगाने में दिन बीतने लगे। कुछ दिनों के बाद स्कूल मे मास्टरी मिल गयी।

जिस समय मैसरिक स्कूल में शिक्षा का काम करते थे उस समय एक ऐसी घटना हो गयी जिससे उनकी असाधारण बुद्धि एवं प्रत्युत्पन्न-मतित्व का परिचय मिलता है। उस समय आस्ट्रिया के साथ प्रसिया और इटली की लड़ाई चल रही थी। उन दिनों सैनिक लोग प्रायः मार्गवर्गी ग्राम में लूट-पाट मचाते हुए युद्ध यात्रा किया करते थे। एक दिन सुना गया कि प्रसियन सिपाही मैसरिक के गाँव की तरफ आ रहे हैं। गाँव की जनता तो मारे भय के सूख कर काँटा हो रही थी। मैसरिक चुपचाप दौड़ कर उस स्थान पर पहुँचे जहाँ से गाँव में प्रवेश किया जा सकता था। वहाँ सबसे पहला जो घर पड़ता था उसकी दीवार पर खली से मोटे-मोटे अक्षरों मे लिख दिया—"इस गाँव में भीषण रूप से हैजा हो रहा है।" प्रसियन सिपाही जब वहाँ पहुँचे तो उन्होने दूर से ही दीवार पर लिखा हुआ देखा और उस गाँव मे प्रवेश नहीं किया। संध्या समय गाँव के सब लोग एकत्र हुए और जब उन्होंने बालक मैसरिक की करतूत सुनी तो सब ने हँसी के कहकहे लगाये।

वियेना विश्वविद्यालय में अध्ययन करते हुए मैसरिक को अपनी ज्ञान की अदम्य पिपासा शान्त करने का सुयोग प्राप्त हुआ। दर्शन एवं अर्थशास्त्र का उन्होंने विशेष रूप में अध्ययन किया और प्राचीन साहित्य का भी अनुशीलन किया दूसरे विषयों की ओर भी उनकी दिलचस्पी थी।

पुस्तकों के अध्ययन द्वारा उन्होंने जो ज्ञानार्जन किया था उस ज्ञान को परिपुष्ट करने के लिए उनके मन में बाहरी दुनिया के साथ परिचय प्राप्त करने की अभिलाषा उत्पन्न हुई। स्वाधीन देशों की जीवन-यात्रा-प्रणाली, वहाँ की रीति-नीति तथा शासनतन्त्र की अभिज्ञता प्राप्त करने के लिए उनके प्राण आकुल हो उठे। इसके लिए कुछ समय तक उन्होंने अरबी भाषा का भी अध्ययन किया। उनकी इच्छा थी किसी

विदेश में राजदूत बन कर जाने की। किन्तु मैसरिक को क्या मालूम कि यह पद उन जैसे साधारण कुलशील वाले व्यक्ति की पहुँच के बाहर था। इसलिए उधर से निराश होकर मैसरिक फिर प्राचीन साहित्य एवं दर्शन के अध्ययन में रत हो गये। अध्ययन करना और मुक्त आकाश के नीचे दूर तक फैली हुई हरियाली पर बैठ कर एकान्त में चिन्तन करना यही उनकी जीवन-चर्य्या थी।

मैसरिक की प्रथम पुस्तक मृत्यु के सम्बन्ध में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक को लिख कर उन्होंने समझा कि विश्वविद्यालय में उन्हें अध्यापक का पद मिलेगा, किन्तु यह नहीं हुआ। अब वह वियेना से लिपजिग चले आये। यहाँ उनका परिचय एक अमेरिकन किशोरी के साथ हुआ जो अमेरिका के बोस्टन शहर से जरमनी संगीत सीखने आयी थी। दोनों परस्पर के प्रेम द्वारा आकृष्ट हुए। एक साथ मिलकर दर्शन ग्रन्थों का अनुशीलन करने लगे। अपनी इस प्रेयसी के प्रति वह इतने अनुरक्त हो उठे कि पत्नी रूप मे उसे प्राप्त करने के लिए अमेरिका जैसे सुदूर देश की यात्रा की। दोनों विवह-बन्धन में आबद्ध हुए और जीवन-पर्यन्त आदर्श दम्पति के रूप में आनन्दपूर्ण जीवन व्यतीत किया। मैसरिक ने स्वयं लिखा है कि मेरे जीवन के गठन में मेरी पत्नी का बहुत कुछ हाथ था। जीवन के अन्धकारपूर्ण क्षणों में उसके मधुर सम्पर्क एवं उत्साहपूर्ण वाक्यों से मुझे बहुत-कुछ प्रेरणा मिली थी।

मैसरिक प्रेग चले आये और वहाँ के एक नये विश्वविद्यालय में अध्यापक के पद पर नियुक्त हुए। यहाँ आकर उन्होंने देखा कि चेक जाति राजनीति एवं संस्कृति के क्षेत्र में अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करने में व्यस्त थी। आस्ट्रिया और जरमनी के साथ उसका शत्रुतापूर्ण भाव था। मैसरिक को अब मालूम हुआ कि अब तक उन्होंने जिन सब विषयों का अनुशीलन किया है उनके साथ चेक जाति की मुक्ति-समस्या का बहुत कम सम्बन्ध है। घटना चक्र में पड़ कर उन्हें राजनीति में आना पड़ा। उन्होंने एक समाचार पत्र प्रकाशित करना शुरू किया।

साठ साल की उम्र में मैसरिक ने राजनीति-क्षेत्र में सक्रिय रूप से प्रवेश किया। सन् १९०८ में आस्ट्रिया ने बलगेरिया को हड़प लिया था। इसके बाद ही उसने राजद्रोह के अपराध में तिरपन सर्ब और क्रोच को गिरफ्तार कर लिया। यहीं से आस्ट्रिया के विरुद्ध मैसरिक के ऐतिहासिक अभियान का आरम्भ होता है। उन्हें क्या मालूम की इनके इस अभियान का अन्त स्वाधीन चेकोस्लोवेकिया के अभ्युदय में होगा। सन् १९१४ में जब यूरोप का प्रथम महायुद्ध आरम्भ हुआ उस समय मैसरिक की उम्र पैंसठ साल की हो चुकी थी। किन्तु इस उम्र में भी शरीर और मन की शक्ति क्षीण नहीं हुई थी। अब तक जीवन में उन्होंने जो ज्ञानार्जन किया था, देश-विदेशों में भ्रमण करके जो विचित्र अनुभव प्राप्त किये थे उनकी परीक्षा का समय अब उपस्थित हुआ। अपनी अभिज्ञता, अपनी मानसिक एवं शारीरिक शक्ति तथा अपनी प्रतिभा लेकर वह राजनीति के भंवर में कूद पड़े मुक्ति-संग्राम के सेनापति के रूप में। आस्ट्रिया के उद्धत साम्राज्य का अन्त करके स्वाधीन चेकोस्लेवेकिया की स्थापना करने का सुयोग उनके सामने उपस्थित था। इस स्वाधीनता के लिए उन्होंने विप्लव के कण्टकाकीर्ण मार्ग का अवलम्बन किया। जिस उम्र में अधिकाँश मनुष्य शान्त जीवन की कामना करते हैं उस उम्र में मैसरिक ने विप्लव की वह्निशिखा प्रज्वलित की। उनके व्यक्तित्व की महिमा इसी समय प्रस्फुटित हुई। मित्र-पक्ष आस्ट्रिया के राजतन्त्र को कायम रखना चाहते थे। मैसरिक उसका अवसान चाहते थे। इसलिए स्वदेश में रहते हुए विप्लव के षड्यन्त्र को सफल करना सम्भव नहीं था। स्वदेश छोड़ कर हालैण्ड चले गये। वहीं से विप्लव सूत्र-संचालन करना होगा। अभी विप्लव योजना बिलकुल गुप्त रखी गयी थी किसी से यहाँ तक कि पत्नी से भी उन्होने विप्लव की बात नहीं कही थी। वह जानते थे कि पुलिस उनके पीछे में उनकी पत्नी को तङ्ग करेगी—और वह पुलिस से झूठ किसी भी हालत में नहीं कह सकेगी।

सन् १९१४ के नवम्बर में अपनी एक कन्या को साथ लेकर

इटली जाने वाली ट्रेन पर सवार हुए। आस्ट्रिया के सीमांत पर पहुँचते ही विदेश जाने का पासपोर्ट माँगा गया। पासपोर्ट नहीं मिला था। मिलने की उम्मीद भी नहीं थी। इसलिए कानून की आँखों में धूल झोंकने के सिवा और कोई उपाय नहीं था। मैसरिक अपनी कन्या को साथ लेकर चलती ट्रेन में सवार हो गये। बस, अब इटली में उन्हें कौन पकड़ सकता था। कानून की दृष्टि से इस प्रकार आस्ट्रिया का परित्याग करना उनके लिए अवैध कार्य्य अवश्य हुआ था। किन्तु यदि वह ऐसा नहीं करते तो चेकोस्लोवेकिया की स्वाधीनता का स्वप्न किस प्रकार चरितार्थ होता? इस छोटी-सी घटना पर ही तो एक देश का भाग्य निर्भर करता था। और इस घटना के तीन साल बाद लेनिन ने भी तो इसी तरह अपने प्रवास से स्वदेश की यात्रा की थी। लेनिन प्रवासी हुए थे अपने देश में लौट कर विप्लव की अग्निशिखा को प्रज्वलित करने, और मैसरिक प्रवासी हुए थे अपने प्रवास में विप्लव के षड्यन्त्र की रचना करने और फिर सुयोग उपस्थित होने पर उसे अपने देश में मूर्त रूप देने के लिए। रोम पहुँच कर मैसरिक का सम्पर्क कई विप्लव-वादियों के साथ हुआ। आस्ट्रिया के अत्याचारों का अन्त करने के लिए उन्होंने मैसरिक का साथ दिया। सन् १९१५ में मैसरिक जेनेवा चले आये और वहीं से उन्होंने अपने षड्यन्त्र का ताना बाना बुनना शुरू किया। गुप्त रूप से पत्र लिख-लिख कर वह आस्ट्रिया भेजने लगे। अदृश्य स्याही से पत्र लिखना उन्होंने पहले से ही सीख रखा था। इस-लिए विप्लव के सम्बन्ध में जो कुछ सन्देश उन्हें भेजना होता वह इसी कौशल द्वारा अपने देश के विप्लववादियों के पास भेजते और उन्हें विप्लव के लिए तैयार करते।

किन्तु उनके जीवन में सबसे कठिन परीक्षा का अवसर उस समय उपस्थित हुआ जब देश की स्वाधीनता के लिए एक सैन्य-दल का संगठन करना आवश्यक समझा जाने लगा। जब तक चेकोस्लोवेकिया की कोई अपनी सेना नहीं होगी, जो स्वाधीनता के लिये संग्राम कर सके, तब

तक मित्र-शक्तियों की ओर से सहायता मिलने की संभावना नहीं थी। क्या किया जाय। स्वयं वह समर-कौशल से सर्वथा अनभिज्ञ थे। सैन्य-दल का संगठन किस प्रकार किया जाय। आस्ट्रिया के सैन्य-दल से भाग कर बहुत से चेक सैनिक रूस चले गये थे। उन्हीं को लेकर रूस में एक चेकोस्लोवाक सेना संगठित करने का विचार किया गया। किन्तु उस समय तक रूस के जार का पतन नहीं हुआ था। इसलिये सैन्य-संगठन संभव नहीं था। जार के पतन के बाद वह सुयोग उपस्थित हुआ। चालीस हजार चेकोस्लोव स्वयंसेवकों को लेकर एक विराट सैन्यवाहिनी गठित करनी थी। इसके लिए एक कमेटी बनायी गयी। जो लोग आस्ट्रिया की सेना से भाग कर रूस आये हुए थे उनके सामने सिविलियन की पोशाक में खड़े होकर मैसरिक ने कहा—"यदि आस्ट्रिया-जर्मनी विजयी होकर रूस मे प्रवेश करे तो भी तुम लोग उनके हाथ बन्दी नहीं हो सकते। इसलिये स्वदेश की मुक्ति के लिए तुम लोग शस्त्र ग्रहण करो। मित्र शक्तियों की ओर से तुम्हें लड़ना होगा। इसके लिये तुम्हें फ्रांस के रणक्षेत्र में जाना पड़ सकता है।" स्वयं सेवकों ने मौन भाव से उनकी वाणी को सुना, और फिर चुपचाप अपने को उनके हाथ समर्पित कर दिया। "क्या यह सुनने में एक कहानी जैसा मालूम नही पड़ता कि दर्शनशास्त्र का एक अध्यापक जिसका जीवन गूढ़ तत्वों के स्नान में व्यतीत हुआ—साठ से अधिक साल की उम्र में एक सैन्य दल का अधिनायक बन कर सैनिक का जीवन व्यतीत करे ? मैसरिक अब स्वयंसेवकों के साथ सैन्य-शिविरों में रहने लगे। दार्शनिक के शांत चिन्तनशील जीवन के बदले सैनिक का कर्म कठोर जीवन। सैनिकों को रोज ब रोज इस बात की शिक्षा देने लगे कि देश को स्वाधीन बनाने के लिये देश में शस्त्र ग्रहण करके युद्ध करना होगा। युद्ध का क्या परिणाम होगा कौन बता सकता है। स्वाधीनता का स्वप्न सफल होगा अथवा स्वप्न ही रह जायगा यह तो भविष्य के गर्भ में है, किन्तु स्वाधीनता के लिए अनवरत संग्राम करना होगा।

मैसरिक के मन में एक नया विचार उठा। सैन्य-दल को साथ लेकर साइबेरिया होते हुए अमेरिका जाना होगा और वहाँ से फिर सेना को यूरोप के रण-क्षेत्र में भेजना होगा। फ्रांस के रणक्षेत्र में और किसी दिशा से पहुँचने का उपाय भी तो नहीं था। अड़सठ साल की उम्र मे इस प्रकार का अदम्य साहस धारण करके मैसरिक रेल के तीसरे दर्जे के डब्बे में सवार हुए और जापान के समुद्रतट पर पहुँचे। मार्ग मे रेलगाड़ी पर उनकी लेखनी अविराम मार्ग से चल रही थी। लम्बी तीर्थ यात्रा। पीछे-पीछे चालीस हजार स्वयं-सेवक-वाहिनी। अमेरिका के राष्ट्रपति उडरो विलसन के पास आवेदन पहुँचाना है। वह भी तो पहले एक अध्यापक ही थे। घटना चक्र से राजनीति के क्षेत्र में चले आये थे। क्या वे आवेदन पर ध्यान देंगे? राजधानी टोकियो पहुँच कर मैसरिक ने विलसन को एक लम्बा तार दिया। तार में यह भी लिख दिया··· मेरे पीछे-पीछे चालीस हजार स्वयं सेवक वाहिनी आ रही है।

सन् १९१८ के आरम्भ में शिकागो में धूमधाम के साथ मैसरिक का स्वागत हुआ विलसन के साथ उनकी मुलाकात हुई। दोनों अध्यापको ने मिलकर न मालूम किन-किन विषयों पर वार्तालाप किया। दोनों ही मननशील विद्वान थे; केवल राजनीतिज्ञ ही नहीं। आखिर विलसन इस बात पर राजी हो गये कि जेकोस्लोवेकिया को आस्ट्रिया से अलग कर दिया जाय।

इतने दिनों के बाद मैसरिक का स्वप्न अब सफल होता हुआ दिखायी पड़ा। आस्ट्रियन साम्राज्य का पतन हुआ और तीन सौ साल की दुःसह पराधीनता के बाद स्वाधीन जेकोस्लोवेकिया की पताका सगौरव आकाश को चूमने लगी। मैसरिक अभी प्रवास में ही थे। स्वदेश-वासियों की ओर से उन्हें तार मिला—स्वाधीन प्रजातन्त्र राष्ट्र के प्रथम राष्ट्रपति वही निर्वाचित हुए हैं।

कई साल के निर्वाचन के बाद मैसरिक ने स्वदेश के लिये प्रस्थान किया। उस बीच में परिवार वालों पर अनेक विपत्तियाँ आयीं। लिपुस

ने उनकी पत्नी को गिरफ्तार किया था, उनकी लड़की को जेलखाने में डाल दिया था, उनका एक पुत्र जेल में ही बीमार होकर मर गया और दूसरे पुत्र को आस्ट्रियन सैनिक बनने के लिये बाध्य होना पड़ा था। राष्ट्रपति बन करके वृद्ध मैंसरिक स्वदेश लौटे हैं। स्वदेश वासियों ने उनके चरणों में श्रद्धा के फूल निवेदित किये। जिस दुर्ग में आस्ट्रिया के महामहिम सम्राट् का राजसिंहासन सुशोभित हो रहा था उसी में इस दार्शनिक राजनीतिज्ञ का निवास स्थान निश्चित हुआ। किन्तु जीवन संगिनी उसी समय एक सेनिटोरियम में रुग्न शय्या पर पड़ी हुई थी। आस्ट्रियन सम्राट् के उस विशाल दुर्ग में मैंसरिक की संगिनी हीन पहली रात किस तरह कटी होगी—कौन बता सकता है? अतीत जीवन की घटनायें एक-एक करके मन में उठी होंगी और फिर विलीन हो गयी होंगी। जीवन कितना विचित्र है! घटनाओं के प्रवाह में पड़ कर मनुष्य का जीवन क्या से क्या हो जाता है। अदृश्य में बैठा हुआ कौनसा विधाता पुरुष मनुष्य का भाग्य सूत्र संचालित करता रहता है कौन जाने!

मैंसरिक का जीवन सचमुच रोमान्स की तरह चित्ताकर्षक है। अमेरिका के राष्ट्रपति लिंकन की तरह ही मैंसरिक का अधिकांश जीवन दरिद्रता में बीता। आरम्भ से ही इन्हें परिश्रम करके जीविका-निर्वाह करना पड़ा। घोर परिश्रम और अनवरत अध्यवसाय के बीच चरित्र का गठन एवं विकास हुआ। कारखाने में और फिर एक लोहार की दूकान पर काम करना पड़ा। जिस समय मैंसरिक रूस में निर्वासित जीवन व्यतीत कर रहे थे, टालस्टाय उनसे मिलने गये थे। उनके हाथ की झुकी हुई अंगुलियों को देखकर टालस्टाय के चेहरे पर एक दिव्य आनन्द की आभा दौड़ गयी। उस समय मैंसरिक भाषा-विज्ञान, इतिहास और दर्शन के अध्यापक थे। वार्तालाप के प्रसंग में उन्होंने टालस्टाय को बताया कि जरमन दार्शनिकों को समझने में उन्होंने भूल की है। मैंस-रिक का चरित्र बहुत ही उज्ज्वल था। ज्ञानी, गुणी होने के साथ-साथ वे

बहुत बड़े संयमी थे। आहार-विहार में एक आदर्श संयमी की तरह वह जीवन व्यतीत करते थे। यही कारण है कि वृद्धावस्था में भी उनका मानसिक एवं शारीरिक स्वास्थ्य अक्षुण्ण बना हुआ था। अध्ययन एवं चिन्तन में उनका अधिकांश समय व्यतीत होता था। दृष्टि उनकी बड़ी पैनी थी। यूरोप की राजनीति के सम्बन्ध में उनका ज्ञान असाधारण था वह एक चलता-फिरता विज्ञानकोष समझे जाते थे। काम का इतना बड़ा बोझ उनके सिर पर था कि सोने का अवसर भी बहुत कम मिलता था। सुप्रसिद्ध जरमन साहित्यिक एमिल लुडविग ने उनके सम्बन्ध में लिखा है—"सोते वे बहुत कम थे या नहीं के बराबर। साठ से अधिक उम्र के होने पर भी अपनी शारीरिक कामना को कायम रखने के लिये उन्होंने घोड़े की सवारी करना सीखा था।"

विप्लवी नेता होने पर भी मैसरिक ने अपने जीवन को राजनीतिक मिथ्या एवं कपटाचार से विमुक्त रखा। उनका ख्याल था कि सत्य ही सबसे बड़ा प्रचार कार्य है। देश-प्रेम एवं राष्ट्रीयता का ढिंढोरा पीटना भी उन्हें पसन्द नहीं था। उन्होंने लिखा है—"एक साधारण समझदार आदमी इस बात का बखान करते नहीं फिरता कि मैं अपने माता-पिता पत्नी और बच्चों को प्यार करता हूँ। उसका यह प्रेम तो स्वभावसिद्ध होता है। मुझे बराबर इन शब्दों के उच्चारण करने में लज्जा होती है 'मेरा देश', 'मेरा राष्ट्र'।" राष्ट्रपति के पद पर आसीन होकर उन्हें सबसे अच्छी जो बात लगती थी वह यह थी कि उन्हें अपने पास रुपया पैसा रखकर चलना नहीं पड़ता था। उनकी जेब में एक पेन्सिल के सिवा और कुछ नहीं रहता था।

मैसरिक अपने देश की उस अपमानजनक स्थिति को देखने के लिये जीवित नहीं रहे जबकि म्यूनिख पैक्ट में उनके देश को फासिस्ट शक्ति द्वारा पददलित होने के लिये छोड़ दिया गया। हिटलर को राजधानी प्रेग में देखकर उन्हें दुःख एवं क्षोभ होता अवश्य किन्तु फिर भी वह

अपने देश के भविष्य के सम्बन्ध में निराश नहीं होते। जिस दिन राष्ट्रपति हाथा ने बर्लिन की चैन्सलरी में बैठ कर अपने देश की स्वाधीनता नात्सी जरमनी के हाथ बेच डाली वह सचमुच चेकोस्लोवेकिया के लिये घोर अपमान एवं लज्जा का दिन था। किन्तु जाति के भाग्याकाश में विपत्ति के जो बादल छा गये थे वे थोड़े ही दिन तक रहे। एक बार फिर मुक्त गगन के नीचे स्वाधीन चेक जाति का झण्डा फहराने लगा। चेक जाति के प्राणों में मैसरिक ने स्वाधीनता की जो अशान्त पिपासा भर दी है उसे यूरोप की कोई भी राजनीतिक दुरभिसन्धि नष्ट नहीं कर सकती। वह अमर है।

१२

आइंसटाइन

संसार के प्रायः सब देशों में समय-समय पर ऐसे महापुरुष जन्म-ग्रहण किया करते हैं जो जीवन के विभिन्न क्षेत्र—धर्म, राजनीति, संस्कृति, ज्ञान-विज्ञान, साहित्य, कला, समाजसेवा आदि में अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाकर देश-विदेश में विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लेते हैं। वर्त्तमान युग में भी ऐसे अनेक ज्ञानी, गुणी जन उत्पन्न हुए हैं जिन्होंने अपनी प्रतिभा एवं मनीषा, विद्या एवं पांडित्य द्वारा विश्वज्ञान भण्डार को समृद्ध बनाया है। किन्तु एक श्रेणी के ऐसे भी महापुरुष होते हैं जो अपने-अपने क्षेत्र में अनन्य-साधारण स्थान के अधिकारी होते हुए भी उससे बहुत ऊँचे उठ कर सार्वभौम व्यक्तित्व के रूप में मानव-जाति के सम्मुख उपस्थित होते हैं। उनका आसन चिरंतन के ऊपर प्रतिष्ठित होता है और सब देशों के मनुष्य उन्हें अपना कहने और समझने में गौरव बोध करते हैं। आधुनिक काल में हमारे देश में महात्मा गांधी और कवीन्द्र रवीन्द्र इसी कोटि के महापुरुष हुए हैं। महापुरुषों की इसी परम्परा के धारक एवं वाहक महाविज्ञानी अलबर्ट आइंसटाइन भी थे। यदि यह कहें कि महात्मा गांधी के महाप्रयाण के

बाद आइंसटाइन ही संसार के सर्वश्रेष्ठ पुरुष थे तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं होगी। यही कारण है कि उनके परलोक-गमन से आज सब देशों के मनुष्य शोकविह्वल हो उठे हैं। एक विज्ञानी के रूप में ही नहीं, एक मनुष्य के रूप में भी आइंसटाइन अप्रतिम थे। वैज्ञानिक प्रतिभा, मानव-प्रेम एवं चारित्रिक उदारता का जैसा समन्वय आइंसटाइन मे देखा गया वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। प्रखर विश्लेषणात्मक मननशीलता, सहज विनयशीलता एवं सहृदयता, असत्य एवं अत्याचार के विरुद्ध अनमनीय दृढ़ता तथा समग्र मानव-जाति के लिए आंतरिक ममत्वबोध, इन सब दैवी गुणों का एकत्र समावेश उनमें पाया जाता था। आजीवन विज्ञान की साधना में एकांत भाव से निरत रहने पर भी आइंसटाइन एक उच्च श्रेणी के तत्त्वज्ञानी एवं दार्शनिक थे। एक ऋषि की दृष्टि लेकर उन्होंने विज्ञान देवता की उपासना की थी। इसलिए उनके तिरोधान से केवल विज्ञान-जगत् का सूर्य ही अस्तंगत नहीं हो गया, अपितु, वर्त्तमान जगत् का एक ऐसा नररत्न खो गया जिसके स्थान की पूर्ति सम्भव नहीं। समग्र विश्व आज आत्मीय जन के वियोग-जैसी व्यथा का अनुभव कर रहा है।

यूरोप के जर्मनी देश को शताब्दियों से बड़े-बड़े ज्ञानी, गुणी एव मनीषी-पंडित जनों को उत्पन्न करने का गौरव प्राप्त होता आ रहा है। अकेले जर्मनी ने आधुनिक युग में जितने दार्शनिकों, कलाकारों एव वैज्ञानिकों को उत्पन्न किया है उतना यूरोप के और किसी देश ने नहीं। इसी जर्मनी के वबेरिया प्रदेश के अन्तर्गत उलम नामक स्थान में सन् १८७९ ई० के मार्च महीने में एक यहूदी परिवार में आइंसटाइन का जन्म हुआ था। जन्म के एक वर्ष बाद ही इनके माता-पिता म्यूनिक चले आए। म्यूनिक शहर के एक विद्यालय में इनकी प्राथमिक शिक्षा हुई। छात्र-जीवन के आरम्भ में इनमें किसी प्रकार की विशेषता नहीं देखी गई। इनके शिक्षकों को उस समय इस बात का कुछ भी परिचय नहीं मिला कि आगे चलकर यह बालक एक विश्वविश्रुत वैज्ञानिक बनेगा।

इतना ही नहीं, बल्कि इनके शिक्षक यह समझते थे कि यह लड़का बहुत ही मोटी समझ का है। जीवन में यह कुछ कर नहीं सकेगा। किन्तु १४ वर्ष की अवस्था में ही अपनी असाधारण गणितिक प्रतिभा का परिचय देकर आइंसटाइन ने सब को विस्मित कर दिया। स्कूल में पढते समय लड़के सब से अधिक जिस विषय के प्रति विरक्ति प्रकट करते हैं वह है गणित और गणित में भी विशेष कर ज्यामिति। इसी अवस्था में आइंसटाइन के हाथ यूक्लिड की ज्यामिति-पुस्तक लगी। 'मोटी बुद्धि' के बालक ने थोड़े समय में ही सारी पुस्तक को अच्छी तरह हृदयंगम कर लिया। ज्यामिति में गाणितिक सत्य की जो प्रामाणिकता पाई जाती है उसके प्रति आइंसटाइन विशेष रूप में आकृष्ट हुए। बाद में चलकर उन्होंने विज्ञान के क्षेत्र में जो सब अनुसंधान किए उनमें यही प्रामाणिकता पाई जाती है। आइंसटाइन की प्रयोगशाला मे कागज, पेंसिल और उनके मस्तिष्क के सिवा और कोई अन्य साधन नहीं थे। और, इन्हीं साधनों के बल पर उन्होंने वैज्ञानिक जगत् मे युगांतरकारी आविष्कार कर डाला। १४ वर्ष की अवस्था में उन्होंने ऐनेलेटिकल जियोमेट्री तथा डिफरेंशियल और इंटेगरल कैलकुलस पर पूरी तरह से अधिकार कर लिया। इन विषयों के सम्बन्ध में वे ऐसे-ऐसे प्रश्न अपने शिक्षकों से करने लगे कि उनसे किसी प्रकार भी उत्तर देते नहीं बनता।

आइंसटाइन के पिता हेरमैन आइंसटाइन का एक रासायनिक कारखाना था। किन्तु उनका यह व्यवसाय अच्छी तरह नहीं चलता था। इसलिए आइंसटाइन को वृत्तिमूलक शिक्षा प्राप्त करने के लिए स्वीटजरलेंड के एक सरकारी शिल्प-विद्यालय में भेज दिया गया। वहाँ उन्हें भाषा एवं जीव-विज्ञान, इन दो विषयों में परीक्षा देनी पड़ी। आइंसटाइन परीक्षा देने से बहुत घबराते थे। कारण, परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए पुस्तकों को कण्ठस्थ करना पड़ता था। और इस प्रकार की रटन्त विद्या के प्रति आइंसटाइन की घोर विरक्ति थी। फिर

भी २१ वर्ष की अवस्था तक वे उसी विद्यालय में पढ़ते रहे और वहीं से भौतिक विज्ञान एवं गणित, इन दो विषयों में प्रशिक्षण की उपाधि प्राप्त की। इसके बाद नौकरी की तलाश शुरू हुई। कुछ समय के लिए एक स्कूल में शिक्षक का काम मिला। बाद में एक पेटेंट आफिस में पेटेंट परीक्षक के पद पर नियुक्त हुए। यहाँ उन्हें अधिक काम नहीं करना पड़ता था। चिंतन-मनन के लिए काफी समय मिलता था। इसी समय सन् १९०३ ई० में उन्होंने अपनी एक सहपाठिनी को अपनी जीवनसंगिनी बनाया। वह भी गणित-विज्ञान में निपुण थी। किन्तु यह वैवाहिक जीवन सुखी नहीं हुआ। कुछ ही वर्षों के बाद विवाह-विच्छेद हो गया।

सरकारी पेटेंट आफिस में काम करते हुए उन्होंने आपेक्षिकतावाद अर्थात् थ्योरी ऑफ रिलेटिविटी के सम्बन्ध में गवेषणा करना आरम्भ किया। इस विषय में उनकी गवेषणा का फल सर्वप्रथम १९०५ ई० में विशेष मतवाद—स्पेशल थ्योरी नाम से प्रकाशित हुआ। १९०८ ई० में बर्न में उन्हें अध्यापक का एक पद मिला। दूसरे साल वे अध्यापकी करने के लिए ज़ूरिथ चले गए। इसी समय एक विज्ञान-सम्मेलन में उनका भाषण हुआ। इसके बाद ही प्रेग (जेकोस्लावेकिया) के जर्मन विश्वविद्यालय में वे पदार्थ विज्ञान के अध्यापक नियुक्त हुए। १९१२ ई० में फिर ज़ूरिथ लौट आए। १९१३ ई० में जर्मनी के सुप्रसिद्ध विज्ञानी नार्नष्ट और प्लेंक की चेष्टा से जर्मनी लौट आए। वहाँ पदार्थ-विद्या के अध्यापक तथा एक वैज्ञानिक अनुसंधानशाला के अध्यक्ष नियुक्त हुए। इसके साथ ही प्रसिया की विज्ञान-परिषद के सदस्य निर्वाचित तथा बर्लिन-विश्वविद्यालय में अध्यापक नियुक्त हुए। १९३३ ई० तक आइंसटाइन इस पद पर प्रतिष्ठित रहे। १९१६ ई० मे आपेक्षिक तत्त्व के सम्बन्ध में उनके अनुसंधान का दूसरा खण्ड प्रकाशित हुआ।

प्रथम महायुद्ध-काल में आइंसटाइन के जीवन में तीन स्मरणीय

घटनाएँ घटित हुईं। पहली घटना यह थी कि ९२ जर्मन बुद्धिजीवियों ने एक घोषणापत्र प्रकाशित करके जर्मन संस्कृति एवं जर्मन सामरिकता के एकत्व का समर्थन किया था। आइंसटाइन ने इस घोषणापत्र पर हस्ताक्षर नहीं किया। दूसरी घटना थी आइंसटाइन का पुनर्विवाह और तीसरी स्मरणीय घटना थी १९१६ ई० में सापेक्षिक तत्त्व के द्वितीय अंश—साधारण मतवाद का प्रकाशन।

आपेक्षिक तत्त्व या रिलेटिविटी के सम्बन्ध में आइंसटाइन का जो मतवाद था उस पर वैज्ञानिक-मण्डली में विशेष रूप से आलोचना हुई और इसके प्रमाणित हो जाने पर आइंसटाइन एक श्रेष्ठ वैज्ञानिक के रूप में गिने जाने लगे। १९२२ ई० में उन्हें पदार्थ-विज्ञान में महत्त्वपूर्ण अनुसंधान के लिए नोबेल पुरस्कार मिला। पुरस्कार में उन्हें जो धन मिला उसे उन्होंने विभिन्न संस्थाओं को दान कर दिया। अपने जीवन मे आइंसटाइन ने इतने अधिक सम्मान, उपाधि एवं पदक प्राप्त किए कि वे स्वयं भी उनकी संख्या से अपरिचित थे। १९२५ ई० में उन्हें रायल सोसाइटी का कोपले पदक और १९३५ ई० में फ्रेंकलीन इंस-टीट्यूट पदक प्रदान करके सम्मानित किया गया। १९४५ ई० में 'इंडियन एसोसियेशन फार दि कलटिवेशन आफ साइंस' नामक भारतीय वैज्ञानिक गवेषणा-मन्दिर की ओर से उन्हें एक पदक प्रदान किया गया। इस प्रकार आपेक्षिक तत्त्व का आविष्कार करके आइंसटाइन केवल एक विश्वविख्यात वैज्ञानिक के रूप में ही परिचित नहीं हुए, बल्कि उनके इस आविष्कार का पदार्थ विज्ञान एवं ज्योति विज्ञान पर प्रभूत प्रभाव पड़ा। दोनों ही क्षेत्रों में उनके सिद्धान्त का व्यापक रूप मे प्रयोग होने लगा। आपेक्षिक तत्त्व एक अत्यन्त जटिल विषय समझा जाता है। इसकी जटिलता एवं दुरूहता का अनुमान इस बात से ही किया जा सकता है कि अब तक इस विषय को लेकर अनुमानतः ९०० ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। इसके सिवा न मालूम, कितने प्रबन्ध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं। कहा जाता है कि आपेक्षिक तत्त्व को ठीक-

ठीक समझने वाले विद्वानों की संख्या अंगुलियों पर गिनी जा सकती है। आपेक्षिक तत्त्व के आविष्कृत होने के पूर्व किसी वस्तु के परिमाप के लिए मौलिक विचार—उसकी लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई, इन तीन मात्राओं तक ही सीमित समझा जाता था। आइंसटाइन ने इसे भूल माना। उन्होंने बताया कि इस परिमाप में काल का हिसाब करना भी आवश्यक है और इसे सिद्ध करके दिखा दिया। इस तत्त्व के आविष्कृत होने के पूर्व अधिकांश वैज्ञानिक यह समझते थे कि पदार्थ-विज्ञान के सम्बन्ध में जो सब तत्त्व जानने लायक थे, वे सब जाने जा चुके। अब कोई ऐसा तत्त्व नहीं रह गया है जो अज्ञात हो। किन्तु उनकी यह धारणा भ्रांत सिद्ध हुई। आधुनिक काल में पदार्थ विज्ञान के क्षेत्र में जो सब सत्य विकसित हुए हैं तथा विज्ञान की जो अभूतपूर्व प्रगति हुई है, उसके मूल में डा० आइंसटाइन द्वारा आविष्कृत आपेक्षिक तत्त्व ही काम कर रहा है। इस तत्त्व के द्वारा देश और काल के सम्बन्ध में संसार को एक नूतन प्रकाश मिला है। आईंसटाइन द्वारा उद्‌भावित वैज्ञानिक सूत्रों की सहायता से ही परमाणु-शक्ति पर आज मनुष्य का अधिकार हुआ है। आपेक्षिक तत्त्व की जटिलता के कारण कुछ लोग इसे एक अस्पष्ट दार्शनिक तत्त्व मानते हैं। किन्तु, वस्तुतः इसकी अस्पष्टता का कारण इसका दुरूह गणित है। इस मतवाद को प्रमाणित करने के लिए जिस गणित की अवतारणा की जाती है, वह साधारण जनों के लिए बोध-गम्य नहीं है। आइंसटाइन ने अपने आपेक्षिक तत्त्व में दिखाया है कि गतिमात्र आपेक्षिक है। निरपेक्ष गति-जैसी कोई वस्तु नहीं है और न इसका निर्णय करने का कोई उपाय है। इस तत्त्व के आविष्कृत होने के पूर्व वस्तु और गति की सत्ता एक दूसरे से भिन्न समझी जाती थी। आइंसटाइन ने बताया कि इन दोनों में मूलगत कोई भेद नहीं है। इस लेख में आपेक्षिक तत्त्व की व्याख्या करना हमारा अभीष्ट नहीं। कारण, यह विषय अत्यन्त दुरूह है और लेखक को उसका स्पष्ट ज्ञान भी नही है। इस लिए आपेक्षिक तत्त्व को न समझने पर भी विज्ञान की सीमा

का अतिक्रमण करके आइंसटाइन का चिरकल्याणवादी ऋषिरूप जो हम भारतवासियों के सम्मुख प्रतिभात हुआ है, उस पर ही हम विशेष रूप में आलोकपात करना चाहते हैं।

आइंसटाइन बहुत बड़े वैज्ञानिक एवं गणितज्ञ थे। किन्तु इसके साथ ही वे बहुत बड़े मानव प्रेमिक भी थे। पराधीन एवं निपीडित जातियों की स्वाधीनता का उन्होंने मुक्त हृदय से समर्थन किया। विज्ञान एवं वैज्ञानिक सभ्यता-संस्कृति के समर्थक होते हुए भी मनुष्य को जड़ मानकर उसकी आत्मा की, पिपासा की, उसके अन्तर्निहित सौंदर्यबोध की उन्होंने उपेक्षा नहीं की। संस्कृति, कला एवं प्रेम के क्षेत्र में विश्व-मानव की एकता सम्भव हो सकती है, इस विश्वास को उन्होंने भाव-विलास नही समझा। उनके व्यक्तित्व में जो इस प्रकार परस्पर-विरोधी प्रतीत होने वाले गुणों का समावेश हुआ था, इस कारण ही उन्हें हम अपने देश के कपिल-कणाद-जैसे दार्शनिक एवं वैज्ञानिक की तरह विज्ञान-ऋषि मानते हैं और दूसरी ओर गांधी-रवीन्द्र-जैसे महामानव। इस रूप में ही वे हमारे प्रेम के अधिकारी बन गए थे।

आइंसटाइन केवल वैज्ञानिक ही नहीं, बल्कि निपीड़ित मनुष्य के बन्धु भी थे। इस लिए कुछ समय तक उन्होंने राजनीति में भी सक्रिय भाग लिया था। यहूदी जाति के अधिकारों की रक्षा के लिए उन्होंने डा० वाइजमैन के साथ काम किया था। जेरूजलेम में उन्होने यहूदी विश्वविद्यालय की स्थापना में पूर्ण सहयोग प्रदान किया था। यहूदी उन्हें अपना नेता मानते थे। यही कारण है कि इसराइल के यहूदी राष्ट्र के प्रथम राष्ट्रपति डा० वाइजमैन की मृत्यु के बाद आइंसटाइन को ही सर्वसम्मति से राष्ट्रपति का पद प्रदान किया गया था। किन्तु उन्होंने इस पद को ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया। १९२१ ई० से १९३३ ई० तक वे यूरोप के बहुत-से देशों में घूम-घूम कर व्याख्यान देते रहे। यहूदी जाति के लिए एक स्वतन्त्र वासस्थान निर्मित करने के उद्देश्य से उन्होंने भाषण देकर अर्थ-संग्रह किया १९३२ ई० में

ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय ने उन्हें डॉक्टर की उपाधि देकर सम्मानित किया।

१६६३ ई० में जब जर्मनी में हिटलर का उत्थान हुआ, उसने यहूदियों को उत्पीड़ित करना आरम्भ किया। जर्मनी से यहूदी निष्कासित होने लगे। उस समय आइसंटाइन जर्मनी में नहीं थे। हिटलरी जर्मनी में साहित्यकारों, कलाकारों एवं वैज्ञानिकों को अपमानित एवं लांछित होते देखकर आइसंटाइन का अंतःकरण क्षुब्ध हो उठा और उन्होने स्वदेश नहीं लौटने का निश्चय किया। फ्रांस, स्पेन तथा यूरोप के और कई देशों से उन्हें सादर निमंत्रण मिला। कुछ दिनों तक वे बेलजियम में रहे। बाद में उन्हें एब्राहम फ्लेक्सनर का निमंत्रण मिला और वे अमेरिका के प्रिंसटन नगर में जाकर रहने लगे। १६३० ई० में प्रिंसटन में एब्राहम फ्लेक्सनर ने 'इंस्टिट्यूट फार एडवांस्ड स्टडी' नामक एक ज्ञानचर्चा-केन्द्र स्थापित किया। आइंसटाइन का सम्बन्ध मृत्युकाल पर्यन्त इस संस्था के साथ बना रहा। बड़े-बड़े वैज्ञानिक इस संस्था मे बैठ कर ज्ञानचर्चा एवं गवेषणा किया करते हैं। विभिन्न देशों के वैज्ञानिक यहाँ वास करते है। प्रसिद्ध भारतीय गणितशास्त्री डा० चंद्रशेखरन ने भी इस संस्था में गवेषणा की थी। १६४० ई० में आइंसटाइन को अमेरिका के नागरिक का अधिकार प्रदान किया गया। पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि जर्मनी छोड़ने के बाद जर्मन सरकार ने इस विश्वविख्यात विज्ञानी के मस्तक के लिये एक मोटी रकम निश्चित की थी।

आइंसटाइन का व्यक्तिगत जीवन बहुत ही सरल एवं आडंबर हीन था। जो एक बार उनसे मिलता था, उनका भक्त बन जाता था। स्वभाव अत्यन्त निश्छल एवं मधुर था। प्रिंसटन शहर में साधारण मनुष्य की तरह कपड़ा पहनकर घूमा करते थे। पोशाक के संबन्ध मे इतने लापरवाह कि कभी-कभी कमरबन्द की जगह पर पुरानी टाई बाँधे रहते थे। एक बार पुस्तक में चिन्ह देने के लिये उन्होंने १५००

डालर के एक चेक का व्यवहार किया था। उस चेक के साथ वह पुस्तक खो गई। उनके जीवन की एक दूसरी कहानी यह है कि एक बार वे बस पर यात्रा कर रहे थे। कंडक्टर को एक नोट दिया टिकट के लिये। कंडक्टर ने टिकट का दाम काटकर बाकी पैसे वापस कर दिए। आइंसटाइन हिसाब लगा कर देखने लगे कि उन्हें नोट के बाकी पैसे ठीक-ठीक मिले या नही। बार-बार हिसाब करने पर भी हिसाब ठीक नही मिलता था। तब उन्होंने कंडक्टर को बुलाया। उसने हिसाब ठीक बता दिया और कहा—'जनाब, हिसाब करना इतना सहज नहीं है। इसके लिये अंकशास्त्र का ज्ञान होना आवश्यक है।' इतने बड़े गणितज्ञ को एक कंडक्टर का यह उपदेश! आइंसटाइन संगीत के प्रेमी थे। स्वयं बेहाला बजाया करते थे। मृत्यु के पूर्व उन्होंने जो वसीयतनामा लिखा था उसमें अपना यह प्रिय बेहाला अपने पौत्र के नाम वे छोड़ गये हैं। १९३६ ई० में उनकी दूसरी पत्नी का भी देहान्त हो गया। प्रथम पत्नी से उनके दो पुत्र हैं—एक अलबर्ट जुनियर और दूसरा एडवर्ड।

जिस महाविज्ञानी ने अपनी अद्‌भुत प्रतिभा एवं मनीषा द्वारा पदार्थ विज्ञान एवं समष्टि गणित के क्षेत्र में आमूल परिवर्त्तन ला दिया और जिसके फलस्वरूप दर्शन एवं विज्ञान के बीच नूतन रूप में समन्वय स्थापित करना संभव हुआ है, वही आजीवन जाति, धर्म और रंग के भेदभाव से परे विश्व मैत्री का उपासक बना रहा और सब मनुष्यों को मानवता के नाते एकता के बन्धन में आबद्ध करने के लिये अनवरत संग्राम करता रहा। स्वदेश से निष्कासित होने पर भी जिसके मानव प्रेम एवं सहानुभावता में अणुमात्र भी अन्तर नहीं पड़ा और जो सब देशों और सब जातियों के कल्याण का स्वपन देखता रहा, अप्रतिम प्रतिभा का अधिकारी होकर भी वह मनुष्य इतना विनयशील था कि उसकी विनयशीलता देखकर अवाक् रह जाना पड़ता था। एक ओर अखंड ज्ञान तपस्या और दूसरी ओर मानव प्रेम का सुधा रस, दोनो ने

मिलकर आइंसटाइन के जीवन को एक अपूर्व माधुर्य से मंडित कर दिया था। वैज्ञानिक जगत् में आइंसटाइन जो कीर्त्ति छोड़ गये हैं वह अमर है। उन्होंने बताया कि न्यूटन का मध्याकर्षण कोई निरपेक्ष तत्त्व नहीं है। पृथ्वी का मध्याकर्षण सब वस्तुओं को नीचे ही नहीं खींचता, वस्तुएँ भी पृथ्वी को समान शक्ति से खींचती है और इस परस्पर के आकर्षण के संतुलन में ही सृष्टि का अस्तित्व बना हुआ है बीसवीं शताब्दी के परमाणु विज्ञान में मैक्सप्लैंक, मिलिकन, रदर फोर्ड प्रभृति विज्ञानियों के आविष्कारों के साथ-साथ आइंसटाइन के आपेक्षिक तत्त्व ने आधुनिक पदार्थ विज्ञान के स्वरूप को एक नूतन रूप प्रदान किया है। इन सब वैज्ञानिक आविष्कारों के सहारे आज मनुष्य वैज्ञानिक प्रणाली से एक चेतन तत्त्व की ओर अग्रसर हो रहा है। यह चेतन तत्त्व चाहे जो कुछ हो, किन्तु यह जड़ नहीं है। विज्ञान आज जड़त्व को छोड़कर चिन्मयता के समीप पहुँच चुका है। और, विज्ञान को इस स्थिति तक पहुँचाने में जिन वैज्ञानिकों के दान उल्लेखनीय है उनमें आइंसटाइन का शीर्षस्थान है।

विज्ञान की जिस कल्पनातीत शक्ति की संभावना पर आइंसटाइन ने अपनी आस्था प्रकट की थी उसी शक्ति का दुरुपयोग जब उन्होंने अणुबम के रूप में देखा तब उनकी आत्मा काँप उठी। युद्धकामी राजनीतिक नेताओं की उन्मादता एवं गर्जन-तर्जन से वे अत्यंत व्यथित हो उठे। जिस अमेरिका में उन्होंने आश्रय ग्रहण किया था, गणतंत्र का गढ़ वह अमेरिका ही जब अणु-बम से सज्जित होकर विश्व को आतंकित करने लगा और राष्ट्रों में वैज्ञानिक मारणास्त्रों के संग्रह के लिये होड़-सी होने लगी तब आंतरिक वेदना से व्यथित इस मानव-प्रेमिक विज्ञानी के मुख से यह वाणी विनि:सृत हुई 'जीवन को यदि नए सिरे से शुरू करना पड़े तो विज्ञान के साथ दूर का संबन्ध भी नहीं रखूँगा। एक वैज्ञानिक की अपेक्षा मिस्त्री, लोहार या डाकहरकारा होना अधिक पसन्द करूँगा।'

अपने एक लेख में ने लिखा था 'मैं यह विश्वास

करता हूँ कि युद्धकालीन हत्याकांड साधारण हत्या से किसी भी रूप मे कम दोषावह नहीं है। जब तक संसार के विभिन्न राष्ट्र युद्ध को निर्मूल करके आपसी झगड़े को विधिसंगत रूप में शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा निबटाना नहीं सीखेंगे, तब तक युद्ध के लिये तैयारी होती ही रहेगी। अस्त्र-शस्त्रों की इस उन्मत्त प्रतियोगिता में सब प्रकार के नीच उपायों का अवलंबन किया जायगा, जिसकी अवश्यंभावी परिणति होगी युद्ध के माध्यम से सामग्रिक ध्वंस। ऐसी अवस्था में मारणास्त्र एवं ध्वंस के नाना कलाकौशल को ढूँढ़ निकालने के मार्ग में बाधा देने की कोई सभावना नहीं रह जाती। एकमात्र उपाय है युद्ध के भय को लुप्त कर देना। इस निर्दिष्ट पथ से किसी प्रकार भी विभ्रान्त होने से काम नही चल सकता। सर्वश्रेष्ठ राजनीतिक महामानव गाँधी जी ने इस युग मे हमें मार्ग प्रदर्शन किया है। उन्होंने यह प्रमाणित कर दिया है कि पथ का संधान पा जाने पर मनुष्य कितना महान त्याग कर सकता है। प्रत्यक्ष रूप में जड़ शक्ति अजेय मालूम होने पर भी अदम्य विश्वास द्वारा प्रबुद्ध मानवी इच्छा के सामने उसे झुकना पड़ता है। इसका जीवंत प्रमाण भारत की स्वाधीनता के लिये गाँधी जी का संग्राम है।' यही हमे महामानव आइंसटाइन का यथार्थ परिचय मिलता है। आज विज्ञान ने मनुष्य को ऐसे स्थान में लाकर खड़ा कर दिया है जहाँ विज्ञान के साथ यदि नैतिकता का सम्बन्ध नहीं जोड़ा जायगा तो मानव-सभ्यता या यों कहिये कि मानव जाति के लिये आत्मघाती सिद्ध हो सकता है। शक्ति के साथ यदि प्रेम का मिलान नहीं होगा तो शक्ति मनुष्य को आत्म-विनाश की ओर खींच कर ले जायगी और ले जा रही है। आइंसटाइन की विज्ञान-साधना के फलस्वरूप मनुष्य को आणविक शक्ति का रहस्य मालूम हुआ। इस शक्ति को कल्याणकारी रूप में परिणत करने के लिए वैज्ञानिक आइंसटाइन के साथ उदार मानव प्रेमिक आइंसटाइन को एक करके हमें देखना पड़ेगा। विज्ञानी एवं मानव-प्रेमिक, दोनों के मेल से ही उनके व्यक्तित्त्व का परिपूर्ण विकास हुआ

था। आइंसटाइन ने मानव-कल्याण-साधन के लिए महाशक्ति का आह्वान किया था। भारत मे कभी उनका आगमन नहीं हुआ, किन्तु भारत के साथ उनका आत्मिक संयोग था। गांधी जी एव भारत के महान परंमपरागत आदर्श के प्रति उनके हृदय में श्रद्धा थी। गाँधी और रवीन्द्र के साथ उनकी आदर्श घनिष्ठता थी। गाँधी जी के समान ही मानव की सद्भावना एवं महत् गुणों में वे विश्वाश करते थे। वे मानते थे कि सत्यानुसंधान की अदम्य इच्छा ही मनुष्य की सर्वश्रेष्ठ शक्ति है।

अपने जीवन-दर्शन के सम्बन्ध में आइंसटाइन ने लिखा था—'अज्ञात रहस्य की आंतरिक भाव से अनुभव करना ही श्रेष्ठ अनुभूति है। इस अनुभूति से ही वास्तविक शिल्प एवं विज्ञान का जन्म होता है। इस अनुभूति के आस्वादन से जो वंचित है, अज्ञात रहस्य जिसे प्रेरित नहीं करता, वह बुझने वाले दीप की तरह ही निस्तेज एवं प्राण-हीन है। इस रहस्य अनुभूति से ही धर्म की उत्पत्ति हुई है जहाँ हमारा प्रवेश निषिद्ध है। इस प्रकार की किसी अज्ञात वस्तु के प्रति ममता और उसके अस्तित्व मे विश्वाश, यहि प्रकृत धार्मिक की मनोवृत्ति है। इस दृष्टि से मैं अपने को एक निष्ठवान धार्मिक घोषित करने में जरा भी कुंठित नहीं होता। इस प्रकार के किसी ईश्वर के अस्तित्व में मैं विश्वास नही करता जो केवल अपने भेजे हुए जीवों को शान्ति प्रदान करता है या हमारी विचारधारा जिसे चालित करती है। मृत्यु के बाद मनुष्य जीवित रह सकता है यह धारणा मैं कर ही नहीं सकता। इस प्रकार का विश्वास दुर्बल चित्त वाले मनुष्यों का आश्रय होता है। जीवन के अंतिम क्षण तक जो अंतहीन अज्ञात रहस्य है, हास्य और रुदन से भरे हुए जगत में अपूर्व सृष्टिशाला की जो चेतना विश्वजननी के अंतर में स्वयं प्रकाशित है—उसके सामान्य एक कण को एकान्त मन से उपलब्ध करने की चेष्टा, यही जीवित रहने का एकमात्र उद्देश्य और प्रेरणा है।'

७६ वर्ष की अवस्था में महामनीषी, सत्यसंध आइंसटाइन

अपनी समुज्ज्वल कीर्त्ति छोड़ कर महानिद्रा में लीन हुए हैं। किन्तु युग-युग तक वे जीवित रहेंगे और सब देशों के मनुष्य उनकी स्मृति में प्रणाम निवेदित करते रहेंगे। इतिहास के स्वर्ण-सिंहासन पर चिरकाल तक उनका महामानवत्व प्रतिष्ठित रहेगा।

१३

जोड

हमारे देश के आधुनिक उच्च शिक्षितों में ऐसे इनेगिने लोग होंगे जो दार्शनिक सी० ई० एम० जोड के नाम से परिचित न हों। उनकी 'Guide to the Philosophy of morals and Politics' तथा 'Introduction to modern Political Theory' ये दो पुस्तकें प्रायः हर पुस्तक की दुकान और रेलवे के बुक स्टाल पर देखी जाती हैं। ये दो पुस्तकें इस देश में खूब लोकप्रिय सिद्ध हुईं और इनकी खपत भी अच्छी हुई। इन दो पुस्तकों के अलावा जोड ने और भी कई उत्तम पुस्तकों की रचना की, जैसे कि 'Introduction to Modern Philosophy', Essence of Common sense Philosophy', The Story of Civilization', 'The Story of Indian Civilization' इत्यादि।

जोड उस श्रेणी के विद्वानों में थे जिनकी प्रतिभा किसी नये सिद्धान्त या मतवाद की उद्‌भावना तो नहीं करती परन्तु विभिन्न विषयों का विश्लेषण एक विशेष प्रकार की प्रकाशभंगी द्वारा किया करती है। इस कार्य में जोड अद्वितीय थे, और यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि उनकी मृत्यु से आधुनिक जगत का एक असाधारण मनस्वी पुरुष उठ गया।

१८९१ ई० में उनका जन्म हुआ था। १९५३ की नवीं अप्रेल को मात्र ६१ वर्ष की अवस्था में उनका परलोकवास हो गया। जोड लदन विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के प्रधान अध्यापक थे। किन्तु वे ऐसे दार्शनिक नहीं थे जो केवल ऊँचे आदर्शों और सिद्धान्तो को लेकर माथापच्ची करते रहें और व्यावहारिक जगत में जो सब घटनाएँ घटित होती रहती हैं उनसे सर्वथा उदासीन बने रहे। जोड के समय में यूरोप के इतिहास में ऐसे अनेक परिवर्तन हुए जिनका मानव-सभ्यता और मानव-संस्कृति पर गहरा प्रभाव पड़ा है। जोड ने इन सब घटनाओं और परिवर्तनों को आँख खोल कर देखा, उन पर मनन किया और अत्यन्त विशद रूप में उनका विश्लेषण किया। केवल दर्शनशास्त्र ही नहीं राजनीति, अर्थनीति और समाजनीति में भी उनकी असाधारण गति थी। अपने ग्रन्थों में इन सब विषयों पर उन्होने इतने सरल और सुबोध ढंग से प्रकाश डाला है कि उनके पारदर्शी पाण्डित्य पर मुग्ध रह जाना पड़ता है। उनकी प्रतिभा की उज्ज्वल दीप्ति उनके ग्रन्थों में फूट पड़ी है।

जोड के ग्रन्थों की एक विशिष्टता यह है कि उनमें आपको लेखक के रूढ़िग्रस्त मन का परिचय कहीं नहीं मिलेगा। बिना किसी पूर्वग्रह के संस्कारमुक्त मन लेकर लेखक ने आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का अध्ययन किया है और एक सत्यान्वेषी के रूप में भिन्न-भिन्न विषयों की आलोचना की है। इनकी आलोचना की शैली अत्यन्त स्वच्छ एवं स्पष्ट है। जोड की

एक विशेषता यह थी कि दर्शन जैसे शुष्क विषय की आलोचना करते समय भी वे उसे अत्यन्त सरस बना डालते थे। विषय में कहीं जटिलता नहीं। पाश्चात्य दर्शनशास्त्र में उनका पाण्डित्य अपरिसीम था। बड़ी तीक्ष्ण दृष्टि लेकर उन्होंने पाश्चात्य दर्शन एवं नीतिशास्त्र के अन्तस्तल मे प्रवेश किया है और उसके सिद्धान्तों पर नये रूप में प्रकाश डाला है। इसी प्रकार "Guide to the Philosophy of Moral and Politics" और "Introduction to Modern Political Theory" इन दो पुस्तकों में उन्होंने वर्तमान युग के विभिन्न राजनीतिक मतवादों की जैसी निष्पक्ष एवं यथार्थ आलोचना की है वैसी बिरले ही देखने को मिलती है। जोड ने आधुनिक विज्ञान का भी अध्ययन किया था और उसे यथोचित मूल्य भी प्रदान किया था। किन्तु भौतिक विज्ञान की मान्यताओं का चरम-सत्य के रूप में उन्होंने स्वीकार नहीं किया है। जड़ विज्ञान के साथ-साथ जीवन का जो मूल्य बोध है उसे भी उन्होंने मर्यादा प्रदान की है। इस प्रकार एक जिज्ञासु के रूप में उन्होंने आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में प्रवेश किया था और उसे अपनी प्रखर बुद्धि द्वारा आलोकित किया था। हम भारतीयों के लिये जोड के सम्बन्ध में एक विशेष ज्ञातव्य बात यह है कि उन्होंने भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति अपने मन मे श्रद्धा एव सहानुभूति धारण करके उसका परिचय प्राप्त किया था। उन्होंने स्वय लिखा है कि भारत के सम्बन्ध मे जो कुछ मैंने ज्ञानार्जन किया है वह पुस्तकों का अध्ययन तथा लन्दन-प्रवासी भारतीय छात्रों के साथ विचार-विमर्श करके। जोड युद्ध को मानवता के लिये अभिशाप समझते थे। विश्वशान्ति एवं विभिन्न जातियों और राष्ट्रों के बीच बन्धुत्व के आदर्श में उनका अखण्ड विश्वास था। इसलिए अपनी 'The Story of Indian Civilization" पुस्तक में उन्होंने भारत के कवियों, कलाकारों, दार्शनिकों और मनीषियों की ही विशेष रूप में चर्चा की है।

प्राचीन युग से लेकर आधुनिक काल तक के भारतीय इतिहास की भावधारा का दिग्दर्शन कराते हुए लेखक ने बताया कि किस प्रकार इस देश में विभिन्न जातियों का सम्मिश्रण हुआ और इस सम्मिश्रण के फलस्वरूप भारतीय संस्कृति एक-एक युग में पुष्टि प्राप्त करके विकसित हुई। लेखक ने भारतीय दर्शन और धर्म की आलोचना के प्रसंग में भारतीय मनीषियों का सत्य एवं श्रेय के प्रति जो दृष्टिकोण था उस पर गम्भीर भाव से विचार किया है।

भारतीय शिल्प-साधना में जो सूक्ष्म सौन्दर्यबोध है उस पर विचार करते हुए लेखक ने वैदिक युग से लेकर मुसलमानों के राजत्व-काल तक की कला-साधना, भारतीय चित्रकला, स्थापथ्य आदि की आलोचना की है। प्राचीन भारतीय कला एवं सौन्दर्यबोध के पीछे जो आध्यात्मिक प्रेरणा काम कर रही थी उस पर भी लेखक ने विचार किया है। पाश्चात्य शिक्षा, सभ्यता आदि का भारतीय रीति-नीति, शासन-व्यवस्था आदि पर जो प्रभाव पड़ा है उसका उल्लेख भी पुस्तक में किया गया है।

जोड ने लिखा है कि भारत में भिन्न-भिन्न समय में विभिन्न जातियों का प्रवेश हुआ। ये जातियाँ अपनी-अपनी सभ्यता, अपना-अपना धर्ममत और रीति-नीति लेकर इस देश में आई। भारत ने इनके प्रति उदारता दिखलायी। अन्य जातियों के धर्ममत, आचार-अनुष्ठान की भारत ने रक्षा की। दूसरों के धर्म और मतवाद के प्रति वह बराबर सहिष्णु बना रहा। भारतीय सभ्यता की एक विशेषता यह रही है कि विभिन्न जातियों की सभ्यता एवं राजनीति को उसने आत्मसात् कर लिया। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति का प्राणरस कभी शुष्क होने नहीं पाया। एक जाति ने अन्य जातियों की सभ्यता एवं संस्कृति के प्रति इस प्रकार उदारता दिखाई हो, इसके दृष्टान्त संसार के इतिहास में कदाचित् ही मिलेंगे।

आर्य एवं अनार्य दोनों जातियों के सम्मिश्रण से भारतीय समाज का गठन एवं विकास हुआ है। राष्ट्रगठन और धर्म के क्षेत्र मे भारतीयों का दृष्टिकोण समन्वयमूलक था। विचार की स्वतन्त्रता इस देश में जैसी थी वैसी प्राचीन काल में किसी भी सभ्य देश में नही। भिन्न धर्ममत और भिन्न विचार धारण करने के लिए यहाँ कभी किसी पर अत्याचार नहीं हुआ और न भिन्न धर्मावलम्बियों को कभी उत्पीड़ित किया गया। विभिन्न धर्मो के मानने वालों को सदा इस देश में प्रश्रय मिला। जोड के विचार से भारतीय ऋषियों ने जाति-भेद की जो उद्‌भावना की थी उसके पीछे भी उनका समन्वयपूर्वक दृष्टिकोण काम कर रहा था। समाज में सुव्यवस्था कायम करने के लिये ही उन्होंने इस प्रथा का प्रवर्त्तन किया था। इसे उन्होंने "हिन्दू विचार और क्रिया का सबसे बढ़कर आश्चर्यजनक समन्वय" बताया है। यह ठीक है कि बाद में चल कर इस प्रथा के कारण समाज में मनुष्य-मनुष्य में भेदभाव की सृष्टि हो गई और अनेक दूषण फैल गये, किन्तु इससे इसकी व्यर्थता सिद्ध नहीं होती। लेखक ने भारतीय समाज-व्यवस्था के साथ प्लेटो के आदर्श राष्ट्र की समाज-व्यवस्था की तुलना की है।

भारतीय साहित्य की आलोचना के प्रसंग में जोड ने वैदिक साहित्य से लेकर धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, काव्य, नाटक, दर्शन, कामशास्त्र, बौद्ध साहित्य तक सब कुछ का उल्लेख किया है। लेखक ने कालिदास की रचनाओं में जो काव्य-सौन्दर्य भरा पड़ा है उसकी प्रशंसा मुक्तकंठ से की है। वैदिक ऋषियों की कवि-प्रतिभा की ओर भी लेखक ने संकेत किया है।

भारतीय राज्य शासन-व्यवस्था के सम्बन्ध में जोड ने विचार करने में वही भूल की है जो अन्य यूरोपियन पण्डितों ने। भारतीय स्वभाव से ही इहलोक और उसके व्यवहारों के प्रति उदासीन रहा करते हैं। इहलोक की अपेक्षा परलोक को वे अधिक महत्त्व देते हैं। पार्थिव

सुख-भोग की अपेक्षा आध्यात्मिक चिन्तन की ओर उनका ध्यान विशेष रहता है। इसलिए भारतीयों ने इहलोक और उसके व्यापारों में कर्म-कुशलता का परिचय नहीं दिया। जोड ने भारतीय साहित्य के अन्तर्गत धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र यहाँ तक कि कामशास्त्र की भी चर्चा की है। भारतीयों ने मनुष्य के लिए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों को पुरुषार्थ माना था। प्राचीन काल में भारतीयों ने बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित किये, उपनिवेश स्थापित किये, विभिन्न देशों के साथ वाणिज्य-सम्बन्ध कायम किया, नगर बसाये, सैन्य संगठन किया और विभिन्न लौकिक व्यवहार-शास्त्रों आयुर्वेद, धनुर्वेद, ज्योतिष, ज्यामिति इत्यादि की रचना की और साहित्य, संगीत, शिल्पकला की चरम उन्नति की। ऐसी स्थिति में यह किस प्रकार कहा जा सकता है कि भारतीय भौतिक जगत और उसके व्यापारों के प्रति सर्वथा उदासीन रह कर दर्शन और अध्यात्म की चिन्तना में ही लीन रहे ?

अपने इस ग्रन्थ में लेखक ने भारतीय जीवन पर पाश्चात्य भाव-धारा का जो प्रभाव पड़ा है उसके गुण-दोषों की भी विवेचना की है। पाश्चात्य देशों की शोषण-नीति एवं धन-लोलुप्ता की लेखक ने निन्दा की है, किन्तु भारतीयों के स्वातन्त्र्य संग्राम के प्रति सहानुभूति के साथ विचार नहीं किया है। जापान, चीन और भारत की तुलना करते हुए लेखक ने लिखा है कि जापान में यूरोप का अंधानुकरण किया जिसके फलस्वरूप यूरोप की तरह वह भी हिंसा और साम्राज्य-विस्तार-लालसा का उपासक बन गया। पर-राज्य-हरण की उद्दाम लोभ-लालसा उसके अन्दर जाग उठी। इसके विपरीत चीन ने यान्त्रिक सभ्यता के आदर्श को ग्रहण नही किया। भोग-सुख के पीछे वह पागल नहीं बना। परिवार और समाज के बीच रह कर उसने जीवन की सार्थकता का संधान किया। भारतीयों का जीवनादर्श इन दोनों से भिन्न है। वह लौकिक सुख की कामना न करके पारलौकिक सुख की कामना करता है। यही कारण है कि भारत में समष्टि के कल्याण की अपेक्षा वैयक्तिक

कल्याण—मुक्ति को अधिक महत्त्व दिया गया है। व्यक्ति की चरम साधना मुक्ति समझी गयी और इस मुक्ति की दिशा में ही व्यक्ति के समस्त प्रयास प्रवर्त्तित हुए। यहाँ भी जोड ने भारतीय जीवन दर्शन को समझने में भूल की है। भारत में जगत और जीवन, राष्ट्र और समाज की सर्वथा उपेक्षा कर के एकमात्र परलोक सुख और अध्यात्म-चिन्तन को ही काम्य माना गया, ऐसी बात नहीं है। इसके विपरीत यहाँ इहलोक और परलोक, कर्म और ज्ञान, भोग एवं वैराग्य के बीच सामंजस्य रख कर जीवन धारण करने की शिक्षा दी गयी। जागतिक कल्याण के लिये धर्म एवं नीति की व्यवस्था की गयी। भगवान् कृष्ण ने लोक-संग्रह के लिये—समाज के अभ्युदय के लिए निष्काम कर्म का उपदेश दिया। निष्काम कर्म का यह सिद्धान्त अन्य किसी भी धर्म में नही पाया जाता। हमारे धर्मशास्त्र, पुराण, अर्थशास्त्र, काव्य, नाटक, आयुर्वेद, ज्योतिषशास्त्र आदि हमें केवल अध्यात्म-साधना का उपदेश न देकर यह भी बताते हैं कि संसार में रह कर मनुष्य किस प्रकार अपने जीवन को स्वस्थ, सुखी एवं मंगलमय बना सकता है।

जोड स्वप्नदर्शी दार्शनिक थे। उन्होंने प्राच्य एवं पाश्चात्य भावधाराओं के मिलन का स्वप्न देखा था। वे उस दिन का स्वप्न देखा करते थे जबकि विभिन्न जातियों के बीच मानवता के आधार पर बन्धुत्व की भावना सुदृढ़ होगी। संकीर्ण जातीयता का स्थान अन्तर्राष्ट्रीयता ग्रहण करेगी और मनुष्य-मनुष्य के बीच प्रेम का सम्बन्ध स्थापित होगा। युद्ध, हिंसा और प्रतिहिंसा से जर्जरित पृथ्वी पर शान्ति का मंगलकलश प्रतिष्ठित होगा और महामिलन का जयघोष सर्वत्र सुनायी पड़ेगा। दार्शनिक जोड का स्वप्न कौन जाने कब चरितार्थ होगा।

१४

शोपेनहावर

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ का यूरोप। सर्वत्र निराशा की घनीभूत छाया। उस युग का दुर्धर्ष-शक्ति मानव स्वदेश से निर्वासित होकर एक निर्जन द्वीप में एकाकी जीवन व्यतीत कर रहा है। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति में जन-शक्ति का जो दुर्जय अभियान आरम्भ हुआ था वह भी पराजित होकर अन्तिम साँसें गिन रहा था। राज-शक्ति का एक बार पुनः अभ्युत्थान होने लगा था। ऐसा लग रहा था मानो समस्त यूरोप किसी अदृश्य शक्ति के सामने पदानत हो। लाखों सबल मनुष्य मृत्यु के ग्रास हो चुके थे। सारे महादेश में एक नये सिरे से जीवन की नींव डालनी थी। युद्ध के कारण आर्थिक प्राचुर्य का जो विनाश हो चुका था उसकी फिर से प्रतिष्ठा करनी थी। ऐसा किये बिना सभ्यता के स्वप्न का वास्तविक रूप में चरितार्थ होना सम्भव नहीं था।

अठारहवीं शताब्दी की क्रान्ति मृत हो चुकी थी; और उसके साथ-साथ यूरोप का प्राणस्पन्दन भी। एक नूतन स्वर्ग-राज्य के निर्माण का जो स्वप्न देखा जा रहा था, वह स्वप्न न मालूम कहाँ चला गया!

न मालूम कितने शक्तिमान वीरों और आदर्श विश्वासियों ने यूरोप की इस क्रान्ति को सफल बनाने के लिए संग्राम किया था। यूरोप के सर्वत्र तरुणों के हृदय में एक नूतन आशा, नयनों में अनागत भविष्य का ज्योतिर्मय स्वप्न और धमनियों में चंचल रक्त धारा। किन्तु वह रंगीन स्वप्न कहाँ चला गया ? कौन जानता था कि विप्लव की परिणति इस रूप में होगी ! वाटर्लू, सेन्टहेलेना और वियेना। फ्रांस के राज्य-सिंहासन पर 'बूरबन' वंश का एक राजा। आशा एवं उद्योग से पूर्ण एक गौरवोज्ज्वल युग की इस रूप में परिणति मानव जाति के इतिहास में पहले कभी नहीं देखी गयी थी। एक दुःखान्त नाटक का यह परिहास ! हास्य के साथ अश्रु का कटु सम्मिश्रण !

दुःख और मोह भंग के दरिद्र जनगण के लिए एकमात्र आश्वासन था धर्म विश्वास। किन्तु राजनैतिक एवं आर्थिक विपर्यय के फलस्वरूप समाज के उच्च वर्ग के अधिकांश लोगों में वह धर्म विश्वास भी नहीं रह गया था। एक बृहत्तर जीवन की कल्पना करने की शक्ति वे खो चुके थे—ऐसा बृहत्तर जीवन जिसमें न्याय और सौन्दर्य की प्रतिष्ठा होगी और वर्तमान का कदर्य रूप विलीन हो जायगा।

यह एक ऐसा युग था जिसमें समाज-जीवन के सभी क्षेत्रों में—राजनीति, अर्थनीति, साहित्य, संगीत, कला, दर्शन, सर्वत्र नैराश्य एवं अविश्वास का राज्य था। मनुष्य के मनोजीवन पर भी इस नैराश्य का प्रभाव गम्भीर रूप से पड़ रहा था। इस समय के कवियों, कलाकारों और दार्शनिकों में भी निराशावाद का सूत्र पाया जाता है। ऐसे समय में ही जर्मनी के प्रचण्ड निराशावादी दार्शनिक शोपेनहावर का आविर्भाव होता है। शोपेनहावर दुःखवादी दार्शनिक थे। किन्तु घनान्धकार के बीच जिस प्रकार विद्युत् आलोक ज्वलित हो उठता है, उसी प्रकार उनके दुःखवाद के भीतर से उनके प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की ज्योति जगमगा उठी। उनके मन में जो दुःखवाद घनीभूत हो उठा था वह उनसे पूर्व जो दार्शनिक हुए थे उनके ही अविश्वास की प्रतिक्रिया थी। और यह तब

सम्भव हुआ जब कि भारतीय उपनिषद् ग्रन्थों का इन्द्रियातीत-सत्य उनके मनश्चक्षु के सामने प्रोद्भासित हो उठा। उपनिषदों का पारायण करके उनकी आत्मा को सान्त्वना मिली। गद्गद् वाणी में उन्होंने उपनिषद् की महिमा का वर्णन करते हुए कहा:—"इससे मुझे जीवन मे सान्त्वना मिली है, मरण में भी यह मुझे शान्ति प्रदान करेगी।"

शोपेनहावर का जीवन भी विचित्र घटनाओं से परिपूर्ण था। सन् १७८८ ई० की २२ फरवरी को डैनजिग में उनका जन्म हुआ था। पिता एक सुयोग्य व्यवसायी थे। स्वतन्त्रता प्रेमी और स्वाधीनचेता होने के साथ-साथ वे उग्र प्रकृति के थे। १७९३ ई० में वे डैनजिग छोड़ कर हैमबर्ग चले आये। अपने जीवन के आरम्भ के कई वर्ष शोपेनहावर ने अपने पिता के साथ व्यवसाय सीखने में बिता दिये। कुछ समय के बाद उनका यह व्यवसायी जीवन यद्यपि नहीं रहा, फिर भी इसका प्रभाव उनके परवर्ती जीवन पर सक्रिय रूप में बना रहा। इस प्रभाव के फलस्वरूप ही उन्होंने वास्तव जगत् और उसके मनुष्यों के सम्बन्ध में बहुमूल्य अनुभव प्राप्त किए थे। शोपेनहावर केवल भावराज्य में विचरण करने वाले, वास्तविक जीवन से विमुख, ग्रन्थ कीट दार्शनिक नहीं थे।

शोपेनहावर पर उनके माता-पिता के चरित्र का जो प्रभाव पड़ा था, उसके सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं लिखा है—"पिता से चरित्र की दृढता और इच्छा शक्ति और माता से मेधाशक्ति मैंने उत्तराधिकार रूप मे प्राप्त की है।" उनकी माता एक मेधावी महिला थीं। अपने समय की वह एक जन-प्रिय उपन्यास लेखिका थीं। किन्तु उसका मिजाज रुक्ष था। अपने अरसिक पति के साथ उसका जीवन कभी आनन्दपूर्ण नहीं रहा। इस लिये पति की मृत्यु के बाद उसने स्वच्छन्द भाव से अपना रूमानी जीवन आरम्भ किया। इसके लिए उपयुक्त स्थान वेमर था। अतः वह हैम्बर्ग छोड़ कर वेमर चली गयी। वहाँ एक तरुण के साथ उसने पुनर्विवाह कर लिया। शोपेनहावर के मन पर अपनी माता के इस आचरण का विषम प्रभाव पड़ा। इसके बाद से माता के सा

उनका सम्पर्क शिथिल होने लगा। कभी-कभी अतिथि के रूप में वह अपनी माता के पास जाया करते थे। यह सम्बन्ध कुछ दिनों तक भली भाँति चलता रहा जब कि एक दिन विख्यात जर्मन कवि और दार्शनिक गेटे ने शोपेनहावर की माता से कहा कि आपका पुत्र एक दिन प्रसिद्ध पुरुष होगा। यह सुन कर माँ अपने पुत्र के प्रति ईर्ष्यालु हो उठी। एक ही परिवार में दो प्रतिभाशाली व्यक्ति हो सकते हैं, यह बात उसके लिए कल्पनातीत थी। इसके बाद से दोनों में कलह का सूत्रपात होने लगा, और एक दिन उत्तेजना में आकर माता ने अपने प्रतिद्वन्द्वी पुत्र को धक्का देकर सीढ़ी से नीचे गिरा दिया। शोपेनहावर क्रोध एवं दुःख से व्यथित होकर वहाँ से विदा हुए। चलते समय अपनी माता से कहा— "भावी युग के मनुष्य मेरे नाम से ही तुम को जानेंगे।" माता और पुत्र के इस विच्छेद के बाद भी शोपेनहावर की माँ और २४ वर्ष जीवित रहीं। अंग्रेज कवि बायरन को भी अपनी माता के साथ यही दुर्भाग्य भोगना पड़ा था। ऐसी दशा में यदि एक कवि के रूप में बायरन और एक दार्शनिक के रूप में शोपेनहावर घोर निराशावादी बन गए तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। जिस व्यक्ति को अपने जीवन में माता का स्नेह वात्सल्य तो कभी मिला ही नहीं बल्कि मिली इसके बदले में उपेक्षा और घृणा। वह जगत् और जीवन के सम्बन्ध में किसी प्रकार की रंगीन धारणा अपने मन में पोषण करेगा, इसकी तो आशा ही नहीं की जा सकती।

इसी बीच शोपेनहावर ने विश्वविद्यालय की शिक्षा प्राप्त करली और पाठ्यक्रम के अतिरिक्त बहुत-कुछ ज्ञानार्जन कर लिया। अहर्निश अध्ययन एवं मनन-चिन्तन में व्याप्त रहने लगे। प्रेम और बहिर्जगत् के प्रति एक ऐसी विरूप धारणा उनके मन में स्थान कर गयी कि आगे चल कर वे सब कुछ के प्रति अविश्वस्त और सन्देह प्रवण बन गए। उनका चित्त निरानन्दमय बन गया। भीतियों और असत् कल्पनाओं से उनका मन ग्रस्त रहने लगा। सन्देह और अविश्वास की मात्रा यहाँ तक

बढ़ गयी कि धूम्रपान करने के पाइप को वे सब समय ताला बन्द करके रखने लगे, हजामत बनाते समय नाई से बराबर भयभीत रहा करते थे और रात्रि में सोते समय अपने पास भरी पिस्तौल रख लिया करते थे। किसी प्रकार का कोलाहल वे बर्दाश्त नहीं कर सकते थे। उसके मत से बुद्धिजीवी मनुष्यों के लिए कोलाहल एक प्रकार का उत्पीड़न है। अपने सम्बन्ध में उनकी यह धारणा थी कि लोग उनकी महत्ता को पहचानते नहीं। लौकिक जीवन में सफलता और यश नहीं मिलने के कारण उनकी प्रवृत्ति अन्तर्मुखी बन गयी और वे एक प्रकार के आत्मपीड़न का अनुभव करने लगे। उन्हें ऐसा लगने लगा कि जिस वस्तु की वे आकांक्षा कर रहे हैं वह उन्हें नहीं मिल रही है। इस प्रकार उनकी आत्मकेन्द्रिकता बढ़ती गई और जगत् एवं जीवन के प्रति विराग होता गया।

उनकी पारिवारिक स्थिति जैसी थी, वह भी उनकी इस आत्म-मग्नता में सहायक हो रही थी। माता, पूजनीय परिवार कुछ भी नहीं यहाँ तक की अपना कहने लायक कोई देश भी नहीं। सम्पूर्ण निस्संग एकाकी जीवन। अपने इस एकान्त वास में उन्होंने अपना सारा समय और शक्ति उस ग्रन्थ को तैयार करने में लगाया जो आगे चलकर उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति सिद्ध हुआ। इस ग्रन्थ का नाम है "दि वर्ल्ड ऐज विल ऐण्ड आइडिया।" अपने इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में उनकी यह धारणा थी कि यह सम्पूर्ण मौलिक है और भविष्य में इसके आधार पर सैकड़ों ग्रन्थ लिखे जायेंगे। अपनी कृति के सम्बन्ध में उनकी यह उक्ति उत्कट आत्मश्लाघापूर्ण होने पर भी पूर्णतया सत्य थी। उनका विश्वास था कि इस ग्रन्थ के द्वारा उन्होंने दर्शन की मुख्य समस्याओं का सदा के लिये समाधान कर दिया है।

किन्तु उनकी इस पुस्तक की ओर बहुत कम लोगों ने ध्यान दिया। उस समय का यूरोप इतना दीन-हीन और क्लान्त बना हुआ था कि अपनी दरिद्रता और अवसाद के सम्बन्ध में पढ़ने की प्रवृत्ति

उसमें नहीं थी। पुस्तक के प्रकाशित होने के सोलह वर्ष बाद शोपेन-हावर के प्रकाशक ने उन्हे सूचित किया कि उनकी पुस्तक के प्रथम सस्करण का अधिकांश रद्दी कागज के रूप में बिका है। जिस पुस्तक के सम्बन्ध में इतनी उच्च धारणा अपने मन में वे घोषित करते थे उसकी यह दुर्दशा सुन कर स्वभावतः उनके आत्माभिमान पर भीषण आघात पहुँचा। उनके आहत अभिमान ने यह कह कर संतोष धारण किया कि उनकी रचना शाश्वत काल के लिए, मानवता के लिये है। यही कारण है कि समसामाप्रिक लोगों को वह अपरिचित जैसी प्रतीत हो रही है। समसामप्रिकता की छाप उस पर नहीं होने से वह अपने समय के लोगों को प्रभावित नहीं करती।

इसके बाद शोपेनहावर की जो सब रचनायें हुई हैं वे सब वैशी-ष्ट्यवर्जित हैं। उनमें कोई नूतनता नहीं है। उन्हें पूर्ववर्ती ग्रन्थ का भाष्य समझना चाहिए। "Parergaet Parliapomena" ग्रन्थ जिसका अर्थ हुआ "By Products and Leavings" दो खण्डों मे प्रकाशित हुआ। इसका अंग्रेजी अनुवाद "Essays" नाम से प्रकाशित हुआ। शोपेनहावर की कृतियों में यह सबसे अधिक सुखपाठ्य है और ज्ञान एवं रस से परिपूर्ण है। इसके लिये पारिश्रमिक के रूप में उन्हे पुस्तक की केवल दस प्रतियाँ मिलीं। ऐसी अवस्था में किसी व्यक्ति के लिए आशावादी होना कठिन है।

वेमर छोड़ने के बाद एक ऐसी घटना घटी जिसके कारण उनकी अध्ययन शील एकान्तता कुछ विश्रृंखलित हो उठी। उन्हें आशा थी कि वह अपने दर्शन को जर्मनी के किसी महान् विश्वविद्यालय में उपस्थापित करेंगे। १८२२ मे यह सुयोग उपस्थित हुआ। उन्होंने जान बूझ कर अपने भाषण के लिये ऐसा समय चुना जिस समय अपने समय के विख्यात दार्शनिक हेगेल छात्रों को दर्शन की शिक्षा दिया करते थे। शोपेनहावर का ख्याल था कि छात्र उन्हें और हेगेल को समान रूप से भावी काल के दार्शनिक के रूप में देखेंगे। किन्तु उनकी यह आशा पूर्ण नहीं हुई।

जिस समय वे भाषण कर रहे थे बहुत कम छात्र उपस्थित थे। इससे उन्हें बड़ी विरक्ति और निराशा हुई। उन्होंने हेगेल के विरूद्ध कुत्सित प्रचार किया। सन् १८३१ में बर्लिन में महामारी का प्रकोप हुआ। हेगेल और शोपेनहावर दोनों वहाँ से भागकर अन्यत्र चले गए। कुछ दिनों के बाद हेगेल फिर लौटे। उस समय तक महामारी शान्त नहीं हुई थी। हेगेल उससे आक्रान्त होकर कालकवलित हुए। शोपेनहावर बर्लिन न लौटकर फ्रैंकफोर्ट चले गए। अपने जीवन के शेष वर्ष उन्होंने वहीं व्यतीत कर दिये।

निराशावादी होने पर भी शोपेनहावर अन्य दार्शनिकों की तरह व्यावहारिक ज्ञान से शून्य नहीं थे। उस समय केवल लेखनी के बल पर जीविका निर्वाह करना कठिन था। इसलिए अपने पैतृक व्यवसाय से उन्हें जो कुछ मिल जाता था उससे उनका जीवन आराम से कटता था। अपने धन का उपयोग वे व्यवसाय में करते थे और हिसाब-किताब ठीक रखते थे। एक छोटा-सा मकान ले रखा था। इसी मकान में उनके जीवन के अन्तिम तीस वर्ष व्यतीत हुए। वहाँ उनका साथी एकमात्र उनका पालतु कुत्ता था जिसे वे 'आत्मा' नाम से सम्बोधित किया करते थे। शहर के लड़के उस कुत्ते को छोटा शोपेनहावर कह कर पुकारते थे। शोपेनहावर की एक खाम खयाली यह थी कि हर बार भोजन करते समय वह अपने सामने मेज पर एक स्वर्णमुद्रा रखते थे और भोजन समाप्त करने पर उसे जेब में डाल लेते थे।

शोपेनहावर की ज्ञानसाधना एवं दार्शनिक चिन्तना अनवरत रूप से चलने लगी। उनके अन्दर यह विश्वास बराबर बना रहा कि एक न एक दिन उनकी प्रतिभा की कद्र अवश्य होगी। और आखिर उन्हे प्रतिष्ठा मिली भी। मध्यवर्गीय वकील, डाक्टर, व्यवसायी सब उनके अनुरागी बन गए। उनकी दार्शनिक विचारधारा में दर्शन शास्त्र के अलौकिक जटिल दुरुसतत्वों की अपेक्षा उन्हें वास्तविक जीवन की समस्या का बुद्धिसंगत समाधान मिलने लगा। सारे यूरोप ने उनके दर्शन को

उत्साह के साथ अभिनन्दित किया। धर्मशास्त्र के विरुद्ध विज्ञान का आक्रमण दरिद्रता और युद्ध के विरुद्ध समाजवादियों का आक्रोश, जीवन संग्राम में जीव-विज्ञान की प्रधानता पर जोर—इन सब कारणों ने मिलकर शोपेनहावर के सुयश को चारों ओर फैला दिया।

इस प्रकार लोकप्रियता प्राप्त करने के बाद भी वे काफी दिनों तक जीवित रहे। अपने सम्बन्ध में प्रकाशित होनेवाली पत्र पत्रिकाओं की सभी आलोचनाओं को बड़े चाव से पढ़ा करते थे। संगीत के दर्शन के सम्बन्ध में उनके मतवाद पर एक प्रशंसामूलक लेख एक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। विख्यात संगीताचार्य वैगनर ने उस पत्रिका की एक प्रति उनके पास भेज दी। अपनी इस जन प्रियता पर वृद्ध दार्शनिक को परम संतोष लाभ हुआ और वृद्धवयस में वे बहुत कुछ आशावादी बन गए। अब वे भोजन के बाद वंशी बजाने का अभ्यास करने लगे। देश विदेश से उनके प्रशंसक उनके दर्शनों के लिए आने लगे। सन् १८५८ ई० में जब उनका ७०वाँ जन्म दिवस मनाया गया उस समय संसार के कोने-कोने से बधाई के असंख्य पत्र और तार उनके पास पहुँचे थे।

इस प्रकार वृद्धवयस मे चिराकांक्षित, ख्याति, मान और प्रतिष्ठा प्राप्त करने के बाद सन् १८६० ई० में उन्होंने शरीर त्याग किया। २१ सितम्बर का दिन था। स्वस्थ एवं प्रसन्नचित वे प्रात:काल का जलपान करने के लिए बैठे। बैठे ही बैठे महानिद्रा में लीन हो गये। कुछ समय के बाद घर की मालकिन ने आकर देखा। उस समय वे मेज के पास निश्चल, निस्पन्द निष्प्राण बैठे हुए थे।

जीवन के अन्तिम दिनों में उन्होंने जो बातें लिखी थी उन्हे पढ़ कर नेत्र सजल हो उठते है। उन्होने लिखा था अपने सम्बन्ध में जिस क्षण सोचना शुरू किया उसी क्षण मन मे ऐसा लगा कि अपने को संसार के साथ विभिन्न रूपों में विलीन कर दिया है। सारा जीवन एकान्त नि:संग व्यतीत किया है, मेरे अन्तस्तल से केवल दीर्घश्वांस निकले हैं,भगवन् ? मुझे एक मित्र दो। किन्तु भगवान ने मेरी विनती नहीसुनी

मैं जीवन भर निःसंग ही रह गया। पर मेरा ही दोष है, यह बात मानने के लिये मैं किसी प्रकार तैयार नहीं हूँ। जिस व्यक्ति में मुझे मानवता का किंचित भी आभास मिला उसे मैंने जकड़ कर रखना चाहा, कभी उसे दूर करने की इच्छा नही की। किन्तु अपने जीवन की सन्ध्या में मैं यह कहना चाहता हूँ कि किसी को मैं अपना नही सका, जो लोग आत्मीय रूप में मुझे मिले वे हतभाग्य, दुरात्मा और नीचमना थे। उनके अन्तर में शैतान का वास था, नीचता में वे सिद्धस्त थे।"

दर्शन शास्त्र के सम्बन्ध में अपने एक मित्र को लिखे गए पत्र मे उन्होंने लिखा था; "दर्शन शास्त्र की तुलना पर्वत के बन्धुर पथ से की जा सकती है। इस मार्ग में टेढ़े-मेढ़े, ऊँचे नीचे पथ भी हैं, काँटे भी हैं। ये ऊँचे-नीचे मार्ग कहाँ जाकर मिले हैं कौन जाने? ये मार्ग निर्जन है—निपट निर्जन। मनुष्य जितना ही इस मार्ग से ऊपर उठेगा उतना ही वह जनहीन मालूम पड़ेगा। इस मार्ग के यात्री को निर्भीक होना पड़ेगा। हो सकता है कि वह मार्ग में चलते-चलते खड्ड मे गिर जाय। सबसे ऊपर हिमाच्छादित पथ से उसे परम-विश्वास के साथ आगे बढ़ना होगा। आगे चलकर उसे एक विराट खड्ड दिखायी दे सकता है जहाँ से आगे बढ़ने का कोई मार्ग नहीं। नीचे शस्यश्यामला उपत्य का। निराश होने से, भय करने से पाँव लहूलुहान हो सकते हैं; किन्तु फिर भी परम विश्वास के साथ आगे बढ़ना होगा। ऐसा करने से ही पर्वत के उच्च शिखर पर आरोहण करके नीचे की पृथ्वी स्पष्ट दिखायी पड़ेगी; मरुभूमि और झील सब अन्तर्धान हो जायगी उस समय असमान-तत्व के रूप में कुछ भी दिखायी नहीं पड़ेगा। अनैक्य का कोलाहल भी उस समय कर्णगोचर नहीं होगा, मन में अखण्ड शान्ति विराजेगी। पर्वतारोही उस समय सर्वोच्च शिखर की निर्मल स्निग्ध वायु का सेवन करेगा और नवोदित सूर्य की किरण छटा को देख कर विमुग्ध हो जायगा। नीचे की पृथ्वी पर उस समय भी घनान्धकार छाया रहेगा।"

शोपेनहावर के लेखो में नारी के प्रति कुछ ऐसे भाव व्यक्त हुए है जिनसे पता चलता है कि उनके मन पर निष्ठुर आघात पहुँचा था। पुरुष और नारी चरित्र का विश्लेषण करते हुए उन्होने लिखा है—"नारी अपने व्यक्तिगत जीवन के सुख-दुःख की समस्या को लेकर ही आत्म विभोर रहती है, किन्तु पुरुष अपनी सत्ता को चतुर्दिक् विकीर्ण कर सकता है। उसमे एक ऐसी अपराजेय क्षमता होती है जिससे वह अपने को बहु में व्याप्त कर दे सकता है। नारी के लिये अपने को भूलना सहज नहीं। यही कारण है कि स्त्रियों में बुद्धि का अभाव न होने पर भी प्रतिभा का अभाव अत्यधिक होता है। पुरुष में मस्तिष्क क्षमता इतनी अधिक होती है कि वह मन के चक्षु को उन्मीलित करके एक ऐसी शक्ति को, ज्ञान को, प्रेम को, इच्छा को विश्व के बीच देख पाता है, जिसको किसी सीमा के अन्दर बाँध कर नहीं रखा जा सकता। पुरुष को इस विपुल इच्छा के सामने नतमस्तक होना पड़ता है।"

"जिसे हम प्रतिभा कहते हैं वह है व्यक्तिगत आशा-आकांक्षा का परित्याग करके एक बृहत्तर इच्छा को सफल करने के लिए जीने और मरने की क्षमता। मनुष्य की आशा आकांक्षा जहाँ उसके व्यक्तिगत जीवन को लेकर आवर्त्तित होती रहती है वहाँ वह बुद्धिमत्ता का परिचय दे सकता है, किन्तु प्रतिभा का नही। सौन्दर्य से उसे जो आनन्द मिलता है, कला से जो सान्त्वना मिलती है उससे वह जीवन के दुःख-द्वन्द्व को भूलने में समर्थ होता है।"

शोपेनहावर को संगीत से बहुत प्रेम था। संगीत के सम्बन्ध मे उन्होंने लिखा है—"संगीत वह रस माधुर्य है—जो संसार के वास्तविक जीवन को घेर कर विकसित हो उठता है।" सुप्रसिद्ध जर्मन सुरशिल्पी वैगनर उनसे बहुत प्रभावित हुआ था। अपने एक नाट्यकाव्य को शोपेनहावर को समर्पित करते हुए उसने लिखा था "श्रद्धा कृतज्ञता के निदर्शन स्वरूप समर्पित।"

१५

बर्टेरण्ड रसेल

यदि आप का कोई लड़का या लड़की किसी कालेज में छात्र या छात्रा हों और वहां गणित पढ़ाने के लिये एक ऐसे अध्यापक की नियुक्ति की जाय जो यह कहे कि "मेरा यह निश्चय विचार है कि यदि विश्व-विद्यालय के अधिकांश छात्रों को अस्थायी भाव से सन्तानहीन विवाह का अनुभव हो जाय तो विश्वविद्यालय का जीवन इस समय की अपेक्षा कहीं अच्छा होगा" तो क्या अपनी सन्तान को वहाँ रखना आप पसंद करेंगे ? और इस प्रकार का विचार रखने वाले कोई अनुभवहीन उच्छृङ्खल युवक नहीं बल्कि आधुनिक युग के मनीषी और दार्शनिक वृद्ध बर्टेण्ड रसेल हैं । वही रसेल जिन्हें साहित्य विषय में सर्वश्रेष्ठ नोबेल पुरस्कार से सम्मानित किया जा चुका है। साठ साल की उम्र में अपना यह चौंका देने वाला विचार व्यक्त करके रसेल ने अमेरिका के न्यूयार्क नगर के पुरातन पंथी समाज में तहलका मचा दिया था। न्यूयार्क के एक कालेज में जब आप गणित विषय के अध्यापक नियुक्त हुए और अपना उक्त विचार व्यक्त किया तो आपके विरुद्ध एक तुमुल आन्दोलन शुरू हो गया । धर्म प्रोहितों में तो एक बारगी

खलबली मच गई और उन्होंने रसेल को नास्तिक, लंपट और दुर्नीति-परायण कह कर कोसना आरम्भ कर दिया। समाचार पत्रों में आपके विरुद्ध लेख प्रकाशित हुए, छात्र क्लास छोड़ कर निकल आये और प्रति-वाद सभाओं में रसेल के विरुद्ध जोरदार आक्रोशपूर्ण भाषण हुए। इतना ही नहीं, बल्कि अदालत में रसेल की नियुक्ति के विरुद्ध मामला चलाया गया। अभियोग यह था कि अध्यापक रसेल छात्रों को अबाध प्रेम की शिक्षा देते है। उनकी इस शिक्षा से उत्साहित होकर छात्र उनके सिद्धान्तों को कार्य रूप में परिणत करने की चेष्टा कर सकते हैं। यदि ऐसा हुआ तब तो समाज में घोर दुराचार फैल जायगा और धर्म रसातल को चला जायगा। इसलिये यह अध्यापक अपरिपक्व विचार वाले तरुण-तरुणियों को पढ़ाने योग्य नहीं है। प्रमाणस्वरूप रसेल की प्रेम और विवाह पर लिखी गई चार पुस्तकें न्यायाधीश के समक्ष उप-स्थित की गई। न्यायाधीश उन पुस्तकों को अपने साथ घर ले गये। इन पुस्तकों के आधार पर उन्होंने यह निर्णय किया कि कालेज मे रसेल को अध्यापक-पद पर नियुक्त करने का अर्थ होगा "अश्लीलता की शिक्षा देने के लिये अध्यापक नियुक्त करना।" मामले की अपील अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय में की गई। वहाँ भी न्यायाधीश का निर्णय रसेल के विपक्ष में ही हुआ। न्यायाधीश ने अपना यह मत प्रकट किया कि रसेल का नैतिक चरित्र अच्छा नही है।

बर्टेण्ड रसेल, गणित के अध्यापक एक विख्यात दार्शनिक और चिन्तनशील लेखक हैं। पिछले चालीस साल के अन्दर राजनीति, धर्म, शिक्षा, नर-नारी के यौन-सम्बन्ध आदि विषयों को लेकर आप ने जिस प्रकार के क्रान्तिकारी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, वैसा अन्य किसी ने नहीं किया। अपने चौंका देने वाले विचारों द्वारा आपने समाज की परम्परागत धारणाओं पर रूढ़, कर्कश आघात किया है। आप के विचार समाजवादी हैं। अपने नाम के साथ खानदानी पदवी 'लार्ड' जोड कर आप सीधे 'मिस्टर' कहाना पसन्द करते हैं। वर्तमान

युग के मौलिक चिन्तकों में आप का स्थान अन्यतम है। पुराने विचार के शिक्षा शास्त्रियों, राजनीतिज्ञों, अर्थनीतिज्ञों और धर्माचार्यों की दृष्टि में आप अपने क्रान्तिकारी विचारों के कारण बराबर सामने रहे हैं। और एक विशेष बात यह है कि आपकी पत्नी भी प्रेम और विवाह के सम्बन्ध में आपके समान ही उग्र विचार धारण करने वाली थीं और हैं। दो पत्नियों को तलाक देकर ६४ साल की उम्र में आपने तीसरा विवाह किया है। आपकी दूसरी पत्नी डोरा रसेल ने विवाहित जीवन पर अपने पति से भी उग्रतर विचार प्रकट किये थे। जिनकी एक पुस्तक के सम्बन्ध में लन्दन के समाचार पत्रों में जो समालोचना हुई थी उसका शीर्षक था: "आश्चर्यजनक पुस्तक जिस पर प्रतिबन्ध लग जाना चाहिये।" इतना ही नहीं, बल्कि डोरा ने स्पष्ट रूप से अवाध प्रेम का समर्थन किया था और अपने सम्बन्ध में यह घोषणा की थी कि परपुरुष के द्वारा संभोग करके उसने गर्भ धारण किया है। रसेल और उनकी पत्नी ने एक स्कूल खोला था जिसमें लड़के-लड़कियों को मिलने-जुलने की पूरी स्वतन्त्रता दी गई थी। एक साथ स्नान करना और एक साथ सोना। रसेल का विचार है कि शरीर और उसके किसी अवयव के सम्बन्ध मे लज्जा या अश्लीलता की कोई भावना नहीं होनी चाहिये। स्वाभाविक क्रिया के रूप में यौन-मिलन को ग्रहण करना चाहिये। आपके ऊपर व्यभिचार फैलाने का जो अभियोग लगाया जाता है उसके सम्बन्ध में आपका कहना है: "मै व्यभिचार का उपदेश नहीं देता। मै केवल यही चाहता हूं कि युवक-युवतियों के संगी या संगिनी के चुनाव में पूर्ण स्वतन्त्रता हो और वे सावधानी के साथ चुनाव करें।"

बर्टेण्ड रसेल के सम्बन्ध में ऊपर जो बातें कही गई हैं उन से यह कल्पना करना भी कठिन है कि आप चिन्ता-जगत के एक महारथी और साहित्य-पुरस्कार विजेता हैं। रसेल ने अब तक प्रायः चालीस पुस्तकों की रचना की है जिनमें अधिकांश शिक्षा विषयक हैं। गणित और दर्शन पर भी आपकी कई पुस्तकें हैं। साहित्य-जगत के साथ आप

का परिचय "Conquest of Happiness" नामक पुस्तक को लेकर हुआ। यही आपकी सबसे बढ़ कर लोकप्रिय पुस्तक है। एक अन्य पुस्तक जिसके कारण आपकी ख्याति देश-देशान्तर तक फैल गई वह है "The History of Philosophy" इस पुस्तक की रचना मे आपकी दूसरी पत्नी ने आपकी सहायता की थी। गणित विषय पर जो आपने पुस्तकें लिखी हैं, वे दुबोध्य होने के कारण पण्डित जनों के लिये ही पाठ्य हैं। समाज-विज्ञान के सम्बन्ध में आपकी रचनाएँ अत्यन्त सारगर्भ हैं और इनमें आपके चिन्तनशील मन का परिचय मिलता है। क्या मौलिक चिन्तन, क्या रचना-शैली और क्या पाण्डित्य, सब में रसेल का एक निजि व्यक्तित्व है। उनकी दृष्टि बड़ी पैनी है। कठिन से कठिन विषय भी आपकी रचना शैली के कारण सर्वजन सुपाठ्य बन गये हैं। समाज और विज्ञान के सम्बन्ध में लिखी गई पुस्तकों में निम्नलिखित अति प्रसिद्ध हैं—सामाजिक पुनर्गठन के सिद्धान्त; स्वाधीनता के मार्ग; आनन्द पर विजय; शिक्षा एव समाज-व्यवस्था; मानव-ज्ञान की परिधि और सीमा; शासन-सत्ता और व्यक्ति। इनके अलावा रहस्यवाद और तर्क शास्त्र; बालशेविजम, सिद्धान्त आर वास्तव; चीन की समस्या: आपेक्षिकवाद का क-ख-ग; दर्शन को समस्याये; गणित के सिद्धान्त आदि भी हैं। इन सब ग्रन्थों के नाम से ही आपके व्यापक ज्ञान का अनुमान किया जा सकता है। एक साथ ही इतने विषयों पर मौलिक ग्रन्थों की रचना करना अवश्य ही असाधारण प्रतिभा द्वारा ही सम्भव हो सकता है।

रसेल कोरे सिद्धान्तवादी नहीं क्रियावादी भी हैं। शिक्षा, नीति, नर-नारी सम्बन्ध आदि विषयों पर आपने एक नूतन दृष्टिकोण लेकर विचार ही नहीं किया है, उन विचारों के अनुसार प्रयोग भी किया है। आपका विश्वास है कि बालक-बालिकाओं की शिक्षा प्रारम्भ से ही सम्पूर्ण स्वच्छन्द वातावरण में होनी चाहिए। उन पर किसी प्रकार का नियन्त्रण या विधि निषेध नहीं होना चाहिए इसके लिए आपने अपनी

दूसरी पत्नी डोरा रसेल की सहायता से सन् १६१७ में उन बच्चों के लिए एक पाठशाला की स्थापना की थी। इस पाठशाला में जिस पद्धति से शिक्षा दी जाती थी और बालक-बालिकाओं को स्वच्छन्द भाव से मिलने-जुलने का सुयोग्य दिया जाता था, उससे बहुत लोगों को उसमें दुर्नीति का समावेश जान पड़ा। पुराने विचार के लोग आतंकित हो उठे। अपने विद्यालय के लिए आपने सरकार या धनिकों से सहायता की याचना नहीं की। अपने विश्वास, आदर्श और पद्धति के अनुसार उसे चलाया। किन्तु उपयुक्त शिक्षक और छात्रों के अभाव से वह बहुत दिनों तक चल नहीं सका।

देश-विदेशों में रसेल की ख्याति का कारण उनके शिक्षा विषयक नवीन सिद्धान्त और प्रयोग नहीं, मौलिक दार्शनिक चिन्तन है। दार्शनिक जगत् में आपका स्थान बहुत ऊँचा है। संसार के श्रेष्ठ दार्शनिकों में आपकी गणना होती है। दर्शन के क्षेत्र में आपके जो अमूल्य अवदान हैं उनकी सराहना बड़े-बड़े पण्डितों ने की है। गणित शास्त्र के सुपण्डित होने के कारण आपने वैज्ञानिक पद्धति से दर्शन के तत्त्वों पर विचार किया है। सुतीक्ष्ण युक्तियों द्वारा विशुद्ध ज्ञान पर पहुँचना आपका लक्ष्य है। दर्शन-शास्त्र में जिन तथ्यों पर विचार होता है उनका सम्बन्ध अतीन्द्रिय जगत् से होता है। रसेल ने इस गतानुगतिक पद्धति का परित्याग करके दर्शन को प्रतीक के अर्थ में ग्रहण किया है और एक गणितज्ञ की तरह उसकी व्याख्या की है। दर्शन को गणित शास्त्र के रूप में परिणत करके सत्ता के जगत् की ठीक-ठीक व्याख्या करना ही आपका लक्ष्य रहा है और इस रूप में ही आपने दर्शन-शास्त्र में एक सम्पूर्ण अभिनव गवेषणा-पद्धति की अवतारणा की है। तभी तो अमेरिका के विख्यात दार्शनिक विद्वान विल डुरान्ट ने रसेल को "आधुनिक युग का पाइथा गोरस" कहा है। एक मौलिक चिन्तक के रूप में आपका स्थान आधुनिक युग के श्रेष्ठ चिन्तक बर्गसाँ और आइंसटाइन के साथ है।

रसेल की एक पुस्तक है "संशयवादी निबन्ध"। इस पुस्तक के निबन्धों में उनके दार्शनिक मनोभावों का परिचय मिलता है रसेल ने जगत् को न तो जड़ रूप में ग्रहण किया है और न चेतन रूप मे। जीव और जगत् के सम्बन्ध में मनुष्य कहाँ तक जान सकता है यही प्रश्न आपके सामने है। मनुष्य सब कुछ जान सकता है या नहीं इस सम्बन्ध में आपका मन संशयाकुल है। इसी आकुलता को लेकर आपने एक वैज्ञानिक के रूप में दर्शन के क्षेत्र में अनुसन्धान करना आरम्भ किया जो अब तक चल रहा है। एक भावुक या आदर्शवादी के रूप मे नहीं, बल्कि एक वैज्ञानिक के रूप में, जिज्ञासु होने के कारण स्वभावत: संशय का निराकरण नहीं हुआ है। ज्यों-ज्यों जिज्ञासा की वृत्ति बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों संशय का क्षेत्र विस्तारित होता जाता है। सामने ज्ञान का अनन्त सागर लहरा रहा है। मनुष्य उसके तट पर बैठ कर उसके विषय में सब कुछ जान लेने का दावा कर सकता है? इस प्रश्न का जब कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिलता, तब यही कहना पड़ता है "नेति नेति"।

रसेल स्वभाव से ही संशयवादी हैं। परम्परागत रूढ़िवादी विचारों एवं रीति-नीतियों के विरुद्ध आपने आरम्भ से ही विद्रोह की घोषणा की है। समाज-नीति, धर्म-नीति, सदाचार, ज्ञान-विज्ञान, किसी भी क्षेत्र में आपने चिराचरित प्रथा का अनुसरण नहीं किया है। सब कुछ के विरुद्ध संशय, अश्रद्धा और बुद्धि की तीव्र अनुसन्धित्सा लेकर आप चिन्तन के क्षेत्र में अग्रसर हुए हैं और एक-एक कर सब की, युक्ति एवं तर्क की कसौटी पर परीक्षा एवं समीक्षा की है। प्रखर बुद्धि द्वारा प्रणोदित यह समीक्षा किसी असन्दिग्ध परिणाम पर नहीं पहुँच सकी है जिससे आपका अन्तर चिर-विद्रोही एवं चिर-अविश्वासी बन गया है। दर्शन और समाज-विज्ञान के क्षेत्रों में आपने परम्परा-प्रणाली से अनु-सन्धान करके एक नई प्रणाली का अनुसरण किया है जिससे अन्त तक किसी परिणाम पर पहुँचना सम्भव नहीं हुआ है धार्मिक अनुष्ठान

ईसाई धर्म, इन्द्रियातीत जगत् इन सब के प्रति आपने अश्रद्धा प्रकट की है और प्रचलित विश्वासों की धज्जियाँ उड़ायी हैं। यही कारण है कि धर्म-पुरोहितों एवं धर्माचार्यों की दृष्टि में रसेल एक घोर नास्तिक हैं। धर्म के सम्बन्ध में आपने लिखा है—मेरा विश्वास है कि सब प्रकार के धार्मिक विश्वासों का अन्त हो जायगा। मेरा विश्वास है कि धार्मिक विश्वास का परिणाम शुभ की अपेक्षा अशुभ ही अधिक हुआ है। किन्तु नास्तिक होने पर भी रसेल विकासवाद के सिद्धान्तों में विश्वास नहीं करते। निम्नतम जीव क्रम विवर्जन के द्वारा उच्चतम स्थिति को प्राप्त हुआ है—इस सिद्धान्त का आपने खण्डन किया है। तर्क शक्ति को रसेल ने सब से ऊँचा स्थान दिया है सही, किन्तु आपकी रचनाओं में ऐसे स्थल भी मिलते हैं जिनसे यह आभास मिलता है कि अतीन्द्रियवाद में भी उनका विश्वास है।

समाजवादी सिद्धान्तों से रसेल बहुत पहले से प्रभावित हैं। आपने एक ऐसे आदर्श समाज की कल्पना की है जिसमें सम्पत्ति पर किसी का व्यक्तिगत अधिकार नहीं रहेगा और मनुष्य सब प्रकार के शोषण से मुक्त होगा। सन् १९१४ ई० में जब साम्राज्यवादी युद्ध आरम्भ हुआ, रसेल ने उसका समर्थन नहीं किया। ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रवर्जित अनिवार्य सामरिक शिक्षा का रसेल ने सक्रिय रूप में विरोध किया। इसके लिए आप को अर्थदण्ड मिला। अर्थदण्ड नहीं देने पर आपकी पुस्तकों को नीलाम करके आपसे वह वसूल किया गया।

विश्वविद्यालय के अधिकारियों ने आपके देशद्रोह पर रुष्ट होकर आपको अध्यापक के पद से हटा दिया। इसके बाद आपको अमेरिका के एक विश्वविद्यालय से अध्यापन के लिए निमन्त्रण मिला, किन्तु पासपोर्ट नहीं मिलने के कारण आप वहाँ नहीं जा सके। आपके भाषणों पर भी रोक लगा दी गई थी। १९१८ ई० में एक लेख लिखने के कारण रसेल को ६ मास कारावास का दण्ड मिला। जेल में आपने एक मौलिक ग्रन्थ की रचना की।

रसेल के राजनीतिक एवं आर्थिक सिद्धान्त यद्यपि साम्यवाद-मूलक हैं किन्तु आप कम्युनिस्ट नहीं हैं। सम्पत्ति के राष्ट्रीयकरण पर आपका विश्वास है। सब प्रकार की व्यक्तिगत सम्पत्ति को समाज की सुख शान्ति के लिए अकल्याणकर समझते हैं। बोल्शेविक क्रान्ति के बाद आप रूस गए हुए थे और वहाँ अपनी आँखों से जो कुछ देखा उससे कम्युनिस्ट राष्ट्र के प्रति विरक्ति हो गई। राष्ट्र के सर्वशक्तिमान रूप को देख कर व्यक्ति स्वाधीनता के प्रबल समर्थक रसेल विरक्त हो उठे। कई वर्ष पहले "The God that failed" नामक जो पुस्तक प्रकाशित हुई थी उसमें अन्य कतिपय प्रसिद्ध कम्युनिस्ट मतावलम्बियों के साथ आपने भी रूसी कम्युनिज्म की गतिविधियों के सम्बन्ध मे निराशा प्रकट की है। अपनी पुस्तक "Authority and the Individual" में रसेल ने जो विचार प्रकट किए हैं उनमें भी आपने व्यक्ति स्वाधीनता का समर्थन किया है। आप किसी भी ऐसी शासन-व्यवस्था को मानने के लिए तैयार नहीं हैं जिसमें व्यक्ति को आत्मविकास के लिए पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं मिलती और जहाँ समष्टि जीवन के दबाव में पड कर व्यक्ति का व्यक्तित्व कुण्ठित हो जाता है। रसेल एक ओर यदि व्यक्तिगत सम्पत्ति का उच्छेद और सामपत्तिक साधनों के ऊपर समाज का स्वामित्व चाहते हैं तो दूसरी ओर वे इस प्रकार की समाज-व्यवस्था का समर्थन नहीं करते जिसमें व्यक्ति को पग-पग पर राष्ट्र का आदेश मान कर चलना पड़ता है और उसे अपने विचारों को लेख या भाषण द्वारा व्यक्त करने की स्वच्छन्दता नहीं होती। अपने इस विचार के कारण वे कम्युनिस्टों की दृष्टि में प्रतिक्रियागामी माने जाते हैं। पूंजीवादी समाज और साम्यवादी समाज दोनों से पृथक् आपने एक ऐसे समाज की कल्पना की है जिसमें सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण तो होगा किन्तु क्षमता केन्द्रीय सत्ता में सीमित न रह कर विकेन्द्रीकृत होगी और व्यक्ति के विचार-स्वातन्त्र्य पर किसी प्रकार का अंकुश नहीं होगा। इस प्रकार के समाज के पक्ष में आपने अनेक प्रकार की युक्तियों की अवतारणा की है।

क्या राजनीति क्या समाजनीति क्या धर्म सदाचार सब में रसैल व्यक्तिवादी हैं। प्रचलित किसी भी वाद के बन्धन में अपने को आबद्ध नहीं मानते। उनके लिए व्यक्ति का व्यक्तित्व ही सब कुछ है, और जो भी धर्म नीति या मतवाद मनुष्य के व्यक्तित्व को संकुचित एवं खर्व करे वह त्याज्य है, चाहे उसकी परम्परा कितनी ही गौरवपूर्ण क्यों न हो। व्यक्ति स्वातंत्रय की रक्षा के लिए उन्होंने धर्म-नीति और समाज मे प्रचलित लोगों की मान्यताओं पर निष्ठुर आघात किया है, नैतिक नियमो एवं विधिनिषेधों का उपहास किया है। व्यक्ति स्वातंत्रय की रक्षा के लिए ही उन्होंने अपनी पुस्तक 'The Practice and Theory of Bolshevism' मे साम्यवाद के मौलिक सिद्धान्तों के विरुद्ध तीव्र मतभेद पकट किया है। सोवियत रूस में साम्यवाद या मार्कस्वाद का जो व्यावहारिक रूप उन्होंने देखा उससे वे अत्यन्त खिन्न हो उठे। रूस के अधिनायकत्व में व्यक्ति के व्यक्तित्व को आबद्ध और कुन्ठित होते देख कर उन्हें यह विश्वास हो गया है कि कम्युनिज्म के प्रसार से मानव का कल्याण नहीं हो सकता। रसेल पूंजीवाद के समर्थन नहीं कट्टर विरोधी हैं। वे अपने को साम्यवादी मानते हैं। फिर भी एक दार्शनिक के रूप में उन्होंने स्टालिन-मार्क साम्यवाद के विरूद्ध अपना मक्तव्य प्रकट किया है। साथ ही इसके रसेल, मार्कस् के सब सिद्धान्तों को भी स्वीकार नहीं करते। इस द्रष्ठि से रसेल को हम मानव धर्मी कह सकते है। मानवता में उन्हें विश्वास है। धर्म या ईश्वर में विश्वास न रखते हुए भी मानवता में मनुष्य की शुभ-बुद्धि में उन्हें विश्वास है। अपने इस मानवतावाद के कारण ही रसेल देश-विदेश के दार्शनिकों एव मनीषियों द्वारा श्रद्धा की हष्टी से देखे जाते हैं। डुरान्ट ने उन्हें ईसा का शिष्य कहा है। रविन्द्रनाथ और डा० राधाकृष्णन ने भी उनकी मनीषा एवं प्रतिभा के प्रति गम्भीर श्रद्धा प्रकट की है। बर्नार्ड शा ने १९४२ ई० में रसेल के ७०वे जन्म-दिवस पर उनके सम्बन्ध में लिखा था : "बर्ट्रेण्ड रसेल ने अपने दीर्घ कर्ममय जीवन में वाणी और लेखो

द्वारा आधुनिक काल की विचारधाराओं पर अभूत प्रभाव डाला है।"
बर्नार्ड शा सहज ही किसी की प्रशंसा करने वाले व्यक्ति नहीं थे। रसेल के प्रति उन्होंने जो प्रशंसावाक कहे हैं उनमें सच्चे अर्थ में आन्तरिकता है। बर्ट्रेण्ड रसेल के मौलिक एवं क्रान्तिकारी विचारों का प्रभाव निस्सन्देह आधुनिक युग के विचारजगत पर गम्भीर एवं व्यापक रूप में पड़ा है।

सर्वोदय प्रेस, मेरठ।